

# साभयिक वार्ता

## भारतीय पूंजीवाद के यार



### सुनील भाई का जाना

- रॉयल्टी की बढ़ती लूट
- घोषणापत्र और पार्टियां
- मीडियाशाही और मेक्सिको
- नर्मदा-क्षिप्रा योजना
- सेहत और ग्रामीण भारत
- साईकिल आंदोलन
- प्रवासी मजदूरों की व्यथा
- गांधी कथा

## एक लोकतंत्र मरा सा एक संसद मैली सी

फिर शर्मसार हुआ लोकतंत्र  
उसके पहले उसके भी पहले कितनी बार हुआ  
अर्थ खो चुकी शर्म  
संसद की आँखों में धूल नहीं मिचें झोंकी  
जो कहीं नर्व गैस होती  
'ओम शनरिक्त्यो' छोड़ चुका है टोकियो की ट्रेनों में  
'शोको अशारा' के झंडे तले  
किसी ने नाम दिया इतिहास का काला दिन  
संसद के स्याह सफेद का हिसाब करें  
क्या इसी बचे के हकदार हैं हम

लोकतंत्र की हत्या  
खून बहा  
बार बार मरा लोकतंत्र  
कहते हैं यह धब्बा है  
विधायिका की चादर पर कितने काले धब्बे  
अब चादर ही नजर नहीं आती  
टूटे माईक रोती कुर्सियां  
अब कौन कहे  
'दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दिनीं चदरिया'।

## सपनों का सौदागर नहीं देशद्रोही

मेरा नाम किसी लिस्ट में नहीं आया  
न जांच हुई  
न लोकायुक्त का छापा  
शपथपत्र नहीं दिया किसी ने कभी मेरे खिलाफ  
निशान नहीं पाए गए किसी वारदात में  
मैं कहीं शामिल ही नहीं था  
साफ -सुथरे हाथ

वे सदा सबूतों के अभाव में बरी हुए  
बाइज्जत  
हाथ रंगे नहीं पाए गए उनके  
उस्ताद थे हाथ बदलने में  
दस्तानें चढ़ाने में माहिर  
दस्तानों की पोरों में उंगलियों के निशान नहीं होते  
बेदाग छूटते

मैं कैसा देशभक्त  
न अखबारों में ईमानदारी के विज्ञापन छपे  
टीवी चैनलों पर न प्रशस्ति गान  
न ढिंढोरा पीटा  
न ठिकाने लगाए अरबों रुपए उन जैसे  
न्यायालय कभी संज्ञान नहीं लेता

वे जमीन से जुड़े  
देश एक टाउनशिप है उनके लिए  
लोभ से बना बिग बाजार  
दलाली है  
जहां सपने बिकते हैं  
उनकी भूख बड़ी है

मैं संसद में रुपए लहरा न सका  
न पैसे लिये प्रश्न पूछने के  
आकाशीय तरंगों से पातालीय गैस  
पनडुब्बी से कामनवेलथ  
कहीं नहीं मैं

कैसा देशभक्त  
बुल्लेशाह कहता रहे  
'बुल्ला की जाणां मैं कौण बुल्ला की जाणां'  
मैं जानता हूँ मैं कौन हूँ  
सपनों का सौदागर नहीं  
देशद्रोही हूँ इनके लिए

# सामयिक वार्ता

मई 2014, वर्ष 37, अंक 9-10

संस्थापक संपादक: किशन पटनायक

संपादक: सुनील

उपसंपादक: बाबा मायाराम

संपादन सहयोग:

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन, प्रियदर्शन, अरुणकुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल:

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया,

योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

प्रबंधक: चंद्रशेखर मिश्रा

पृष्ठ-सज्जा: तरुण पटैल, संजीव यादव

कार्यालय: सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी, जिला होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330

(संपादन) 09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल: varta3@gmail.com

आवरण चित्र: आर. प्रसाद

सदस्यता शुल्क:

वार्षिक शुल्क: 150 रुपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रुपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रुपए

आजीवन शुल्क: 2000 रुपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा 'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेंसी की राशि कोर बैंकिंग के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त नाम से खाता क्रमांक 3979000100117987 (ifsc code punbo397900) में जमा कर सकते हैं। जमा करने की सूचना और अपना पता हमें पत्र से अवश्य भेजें। आप पहले से वार्ता के ग्राहक हैं लेकिन वार्ता आप तक नहीं पहुंची हो तो एक पोस्टकार्ड डालकर हमें भूल-सुधार का मौका दें।

## इस अंक में

09

जहां बड़ी कंपनियां हैं

अमित भादुरी

11

गुड़ खाएं और गुलगुले से परहेज

कमलनयन काबरा

22

पूँजीवाद के बहुराष्ट्रीय यार

जितेंद्र भाटिया

26

रॉयल्टी की बढ़ती लूट

राहुल बर्मन

31

घोषणापत्रों की रोशनी में पार्टियां

सत्येन्द्र रंजन

34

भाड़ में जाएं ऐसे दलित नेता

भंवर मेघवंशी

36

मीडियाशाही और मेक्सिको के सबक

पी कुमारमंगलम

40

स्वभाषा के जरिए मानसिक स्वतंत्रता

श्रीधर बर्वे

43

नर्मदा-क्षिप्रा जोड़ने की नादानि

रेहमत

46

डॉक्टरी शिक्षा और ग्रामीण भारत

अभिजीत गाडेवार

55

कोलकाता का साईकिल आंदोलन

बलाई चक्रवर्ती

58

प्रवासी मजदूरों के हाथ काटती व्यवस्था

प्रमोदनी प्रधान

60

गांधी कथा

संतोष

# सुनील भाई का जाना

सुनील भाई नहीं रहे, यह विश्वास करना मुश्किल हो रहा है। जब 16 अप्रैल को उनकी तबीयत बिगड़ी और स्मिता जी और मैं उन्हें इटारसी ले जा रहे थे, तब मैंने उनकी टेबल पर उसी सुबह वार्ता के लिए लिखा अधूरा संपादकीय छोड़ दिया था, यह सोचकर कि वे इटारसी से लौटकर उसे पूरा करेंगे। अब वह अधूरा ही रहेगा।



सुनील भाई को इटारसी में डॉक्टर को दिखाया तो बताया गया उन्हें पक्षाघात की शिकायत है, जल्द भोपाल ले जाना होगा। इटारसी और भोपाल का रास्ता लंबा है और सड़कें बदहाल, गड्डे और धूल से भरी हुई। रास्ते में उन्हें तीन उल्टियाँ हुईं और अंतिम उल्टी में खून आया था।

भोपाल में सुनील भाई के छोटे भाई सोमेश जो खुद डॉक्टर हैं, पहले से मौजूद थे। अस्पताल पहुंचते ही जांच के लिए ले जाया गया, जहां पता चला कि ब्रेन हेमरेज हुआ है और तत्काल ऑपरेशन करना पड़ेगा। ऑपरेशन हुआ भी पर हालत में सुधार नहीं हुआ। भोपाल से दिल्ली के एम्स में ले जाया गया, जहां उनकी हालत जस की तस बनी रही। आखिरकार 21 अप्रैल को सुनील भाई ने अंतिम सांस ले ली।

सुनील भाई से मेरा परिचय 1985 के आसपास हुआ, जब वे दिल्ली छोड़कर केसला आ गए थे। केसला के जंगल और नदी के किनारे बांसलाखेड़ा है, जहां राजनारायण के साथ सुनील रहते थे। यह बहुत रमणीक स्थान था। इटारसी शहर का युवा राजनारायण यहां अकेला ही रह रहा था और क्षेत्र के आदिवासियों को संगठित कर उनमें चेतना जगाने का काम कर रहा था।

मैं उस समय करीब माह भर रहा और सुनील भाई और राजनारायण के साथ गांव-गांव घूमा। होशंगाबाद जिले का केसला विकासखंड आदिवासी बहुल है। यहां गोंड और कोरकू आदिवासी रहते हैं। इस इलाके में दो समस्याएं प्रमुख थीं—एक पानी की और दूसरी विस्थापन की। पीने के पानी की समस्या तो थी ही, खेत भी प्यासे थे। इस इलाके के 44 गांव तवा बांध से विस्थापित हुए, लेकिन इनके खेतों तक नहरें नहीं पहुंची, पानी मिला ऊपरी हिस्से को।

इसी प्रकार भारतीय फौज द्वारा गोला-बारूद के परीक्षण के लिए बनाई गई प्रूफरेंज में यहां के 26 गांव उजाड़े गए। आर्डिनेंस

फैक्ट्री से 9 गांवों की जमीनें गईं। और अब सतपुड़ा टाईगर रिजर्व से सैकड़ों सालों से बसे गांवों को उजाड़ा जा रहा है। यह पूरा जिला उजाड़े और भगाए गए लोगों का बन गया है। सुनील भाई विस्थापितों के संघर्ष से गहरे रूप से जुड़े थे।

महीने भर की तैयारी के बाद 1985 में पानी लाओ संघर्ष मोर्चा बना और इसके तहत केसला से होशंगाबाद पदयात्रा की गई जिसमें करीब 100 आदिवासी

शामिल थे। मुटठी बांधकर, हवा में हाथ लहराकर नारे लगाते हुए इन असहाय और गरीब समझे जाने वाले आदिवासियों को देखकर मैं ऊर्जा से भर उठा।

इसके बाद मैं इस इलाके में सैकड़ों बार गया। 1995-96 के दौरान यह, रहा भी। यह स्थान हमेशा मेरे लिए एक तीर्थस्थल की तरह रहा। जैसे कोई बनारस और हरिद्वार जाता है और वहां से कोई अच्छाई लाता है। मैं भी यहां हमेशा कुछ अच्छाई ढूँढता था। अच्छे विचार सुनता-समझता था। और सुनील भाई से सवाल करता था- वे बहुत सहज थे और खुले हुए थे। उनका सब कुछ सबके लिए था। उनसे किसी भी मुद्दे पर कभी भी बात की जा सकती थी। बहस और बातचीत की जा सकती थी। उनका और उनकी पत्नी स्मिता जी का स्नेह मुझे ही नहीं मेरे जैसे कई लोगों को मिला, जो उनके हो गए और सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हो गए।

सुनील और राजनारायण ने आदिवासियों के साथ मिलकर 1985 में किसान आदिवासी संगठन का गठन किया। और यहीं से शुरू हो गया आदिवासियों के हक और इज्जत की लंबी लड़ाई का सिलसिला। गांव-गांव में बैठकें होने लगीं। पर बीच में एक धक्का लगा। 1990 में राजनारायण की एक सड़क हादसे में मौत हो गई। सुनील भाई ने हिम्मत नहीं हारी, अकेले ही टिके रहे। धीरे-धीरे फागराम, गुलिया बाई और विस्तोरी जैसे नए कार्यकर्ता तैयार हुए और संगठन फिर बढ़ने लगा।

लंबी लड़ाई के बाद तवा बांध पर विस्थापितों को मछली का अधिकार मिला। सुनील भाई के नेतृत्व में अभूतपूर्व सफलता मिली। अगर स्थानीय संसाधनों- जल, जंगल, जमीन पर स्थानीय लोगों को अधिकार दिया जाए तो उनका संरक्षण भी होगा और लोगों को रोजगार भी मिलेगा, यह काम इसकी बेहतरीन मिसाल है।

सुनील भाई अपने छत्र जीवन से ही विख्यात समाजवादी किशन पटनायक व समाजवादी विचारों से जुड़ गए। जब वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली में अध्ययनरत थे तब वे अपने साथियों के साथ 'समता एरा' नामक पत्रिका का संपादन करते थे और खुद ही उसे छात्रों में बांटते थे। उस समय उन्होंने असम आंदोलन के समर्थन में दिल्ली से गुवाहाटी तक साईकिल यात्रा व सिख विरोधी दंगों के खिलाफ पंजाब से दिल्ली तक अमृतसर पदयात्रा की।

पूंजीवाद के विकल्प के रूप में समाजवाद के हिमायती थे। वे हर तरह की गैरबराबरी के खिलाफ थे। बराबरी और समता पर आधारित समाज चाहते थे। उनका जीवन भी वैसा ही था। न कोई तामझाम और न आडंबर। न घर में टीवी है, न कोई वाहन। न जमीन, न कोई जायदाद। सरल और सादा जीवन। सीमित जरूरतें। उनका जीवन बहुत ही सादगीपूर्ण था। उनकी अडिग सिद्धांतनिष्ठा, ईमानदारी और तपे हुए जीवन का कोई जोड़ नहीं है। सत की तरह जीवन जीने वाले सुनील भाई में व्यवस्था परिवर्तन की गहरी तड़प थी। वे बाबा आमटे का उदाहरण देते हुए कहते थे कि बाबा की भारत जोड़ो यात्रा के दौरान कई युवा जुड़े। हमें भी देश में लंबी यात्रा करनी चाहिए जिससे नए युवा जुड़ें और वे परिवर्तन के वाहक बने।

आमतौर पर राजनैतिक व सामाजिक कार्यकर्ता अनुशासन व प्रशिक्षण को तरजीह नहीं देते। सुनील भाई का जीवन कार्यकर्ताओं के लिए मिसाल है। वे अनुशासित थे। समय पर अपना काम करते थे। और निर्धारित कार्यक्रम में हमेशा पहुंचने की कोशिश करते थे। सुबह जल्द उठकर लिखने-पढ़ने का काम खत्म कर अपने दैनंदिन कामों में जुट जाते थे।

सुनील भाई अपना काम खुद करते थे। कपड़े धोने से लेकर पौधों में पानी डालने तक सभी काम करते थे। राशन की लाइन में लगकर राशन खरीदना, बाजार से सब्जी लाना, आटा पिसाना, खाना बनाना, चाय बनाकर कार्यकर्ताओं को पिलाना इत्यादि बहुत से काम। उन्हें भीड़ में बैठकर विज्ञप्ति व पर्चे लिखते देखा जा सकता था, उन्हें हाथ से लिखना पसंद था।

दुबला पतला शरीर, दाढी, चश्मा और स्मित मुस्कान ही उनकी पहचान थी। उनके कंधे पर टंगे झोले में पर्चे, पुस्तिकाएं और सामयिक वार्ता होती थी। वे पैदल चलना पसंद करते थे। मितभाषी और अल्पहारी तो थे ही। लेकिन जब वे भाषण देते थे तो उनके कंठ में सरस्वती विराजमान हो जाती थीं। उनमें भीड़ खींचने और उसे बांधे रखने की अद्भुत क्षमता थी। वे एक अर्थशास्त्री थे जिस सरल ढंग से वे अर्थव्यवस्था की बारीकियों को समझाते थे, उसकी कोई सानी नहीं है। उनके लेख राष्ट्रीय

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे।

सुनील भाई निचले स्तर से जनशक्ति के माध्यम से बदलाव चाहते थे। आदिवासी, किसान और वंचित तबकों की समस्याओं के लिए उन्हें ही संगठित कर उनका हल ढूंढते थे। हरदा, बैतूल और होशंगाबाद में बरसों से यह कोशिशें की जा रही हैं। देश के अलग-अलग कोनों में भी समाजवादी जनपरिषद के साथी यह प्रयास कर रहे थे। ओड़िशा में नियमगिरि की लड़ाई इसका अच्छा उदाहरण है।

पिछले डेढ़ साल से सामयिक वार्ता दिल्ली से इटारसी आ गई। वे चाहते थे कि देश में वैचारिक बहस चलते रहना चाहिए। वार्ता इसका माध्यम बने। कार्यकर्ताओं के वैचारिक प्रशिक्षण व देश-दुनिया के बदलाव व विचारों को जानने का यह जरिया बने। वैकल्पिक राजनीति के वे प्रमुख सिद्धांतकारों में एक थे। वे चाहते थे व्यवस्था में बदलाव हो और इसके विभिन्न पहलुओं पर बहस चले। सही बदलाव तभी होगा।

सामयिक वार्ता के इटारसी आने के बाद सुनील भाई की चिंता उसको लेकर हमेशा बनी रही। वे इसकी सामग्री से लेकर वितरण तक की चिंता करते थे। हम लोग हर अंक के बारे में योजना बनाते थे।

यह अंक क्रोनी कैपिटलिज्म पर है। यह सुझाव भी सुनील भाई का था। वार्ता के इस अंक के संपादन का पूरा कार्य सुनील भाई के अंतिम कार्यों में से एक है। बीमार होने के कुछ समय पहले तक वे वार्ता का काम कर रहे थे। उनकी खास बात यह भी थी कि आदिवासी गांव में रहकर देश-दुनिया के बदलावों पर पैनी नजर रखते थे। हाल ही में हमने लातीनी अमरीका पर वार्ता का अंक निकाला था।

जब समाज में जीवन मूल्य इतने गिर गए हों, कोई बिना लोभ-लालच के सार्वजनिक व राजनैतिक काम न करता हो, सुनील भाई जैसे लोगों को देखकर किसी भी देशप्रेमी का दिल उछल सकता है। अल्बर्ट आइंस्टीन ने गांधी के लिए कहा था कि 'आनेवाली पीढ़ियां शायद मुश्किल से ही यह विश्वास करेंगी कि गांधीजी जैसा हाड़ मांस का पुतला कभी इस धरती पर हुआ होगा।' सुनील भाई के लिए भी यह कथन सटीक बैठता है।

लेकिन भारतीय लोकमानस में महान व्यक्तियों व महापुरुषों का गुणगान करने की परंपरा है। इससे हम अपने दायित्व से स्वतः ही मुक्त हो जाते हैं। सुनील भाई का व्यक्तित्व और जीवन प्रेरणादायी है। वे रचना और संघर्ष के रास्ते पर चलकर समाजवाद और नई दुनिया का सपना देखते थे। अगर हम उनके इस काम को कुछ आगे बढ़ा सकें तो यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

-बाबा मायाराम

## आम चुनाव के मायने

आम चुनाव के लगभग समाप्त होने तक सिर्फ दो ही स्वर सुनाई दे रहे हैं- एक है मोदी लहर और दूसरा है मतदान प्रतिशत में भारी वृद्धि का। इनकी तरह-तरह से व्याख्या हो रही है और इस क्रम में यही दोनों बातें पत्थर की लकीर भी बनती जा रही हैं। शक्तिशाली हो चुकी मीडिया इन बातों को फैलाने और प्रचारित करने में कोई कसर नहीं छोड़ रही है। यह चीज उसके न्यस्त स्वार्थ की भी है। सो ये बातें और भी जोर पकड़ती जा रही हैं और इसी शोर के क्रम में असल में यह हो रहा है कि हम एक फासीवादी शासन की ओर बढ़ते जा रहे हैं। यह शासन हिटलर और मुसोलिनी के अंदाज वाला ही होगा यह जरूरी नहीं है। लेकिन जब शासन कुछ चुने हुए लोगों को ठीक उसी रूप में ले आएगा तो वह फासीवादी आचरण नहीं करेगा यह कहना गलत होगा। अल्पसंख्यकों से दुश्मनी भाव, स्वतंत्रताओं को कथित राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक शुद्धता की रक्षा के नाम पर दबाने और खुलकर पूंजीपतियों का खेल खेलने वाले नरेंद्र मोदी और भाजपा-संघ का शासन अगर आ गया या उसके आने के लक्षण दिख रहे हों तो इस चुनाव से उम्मीदें कम हैं- आशंकाएं ज्यादा।

इस चुनाव में यह भी हुआ है कि मुल्क की एक खास जमात तो सब कुछ भूलकर मोदी के पीछे दीवाने हुई ही है खुद मोदी भी अपना भूत-भविष्य भुलाकर दिन रात एक बौराए व्यक्ति की तरह आचरण कर रहे हैं। वे कितना झूठ बोलते हैं, मुसलमानों के जले पर कितना नमक छिड़कते हैं, गुजरात के एकतरफा और कई मायनों में नकली विकास को लेकर कितनी गलतबयानी करते हैं, इस बात को थोड़ी देर के लिए भूल भी जाएं तो इस बार के इस डरावने सच को कैसे भुलाया जा सकता है कि शासन में बैठी यूपीए सरकार से लेकर तीसरे और चौथे मोर्चे या वाम दल और आम दल तक किसी के पास मोदी को रोकने की कोई योजना या रणनीति नहीं है और सब हथियार डाले बैठे हैं। 'आप' के लोग अगर सीधे मोदी से टकराने का साहस दिखाते भी हैं तो दिल्ली सरकार की उनकी असफलता ने उनके अभियान की सारी हवा निकाल दी है। दूसरी ओर मोदी हैं जो गरजते-बरसते हैं और रणनीति में चाक-चौबंद तो हैं ही साधनों और कार्यकर्ताओं की फौज के मामले में बेहद तैयार हैं। संघ के स्वयंसेवक उनकी सभाओं में गणवेश में ट्रैफिक

पुलिस का काम करने में भी शर्म महसूस नहीं कर रहे हैं। शायद तभी या किसी मानसिक गड़बड़ी के चलते वे खुद को देवताओं का प्रतिनिधि कहते हैं तो कभी मतदाताओं से कहते हैं कि उनका वोट सीधे मोदी को मिलेगा- बीच में पार्टी, चुनाव चिन्ह सब कुछ गायब हो चुके हैं और जाने कितने अवसरों पर वे प्रधान मंत्री की मुद्रा में शपथ ले चुके हैं -उस अंदाज में बोलने और वायदे करना तो बहुत छोटी बात है। इस बार इन सबके चलते चुनाव बदल गया है।

दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र और 81 करोड़ मतदाता वाला मसला अपनी जगह है लेकिन कई बहुत साफ नए मुद्दे उभर रहे हैं जो बाकी दुनिया के लिए चर्चा और चिंतन का विषय हो न हो हमारे लिए जरूर है। इस बार जिस पैमाने पर खर्च हुआ है, जिस सुविधा से लोगों ने इसे सांप्रदायिक रंग दे दिया है और जिस तरह से मतदान बढ़ा है उससे साफ है कि चुनाव के साथ ही हमारी राजनीति और समाज में भी बहुत कुछ तेजी से बदला है। इसमें हम युवा मानस, पहली बार वोट देने वालों की अलग मानसिकता और लोकतंत्र के मजबूत होते जाने का गुण गा सकते हैं पर बातें सिर्फ वही नहीं हैं और नौ चरणों का चुनाव भी हमारी चुनावी व्यवस्था की जितनी सफलता बताता है उतनी ही विफलता भी। इतना लंबा चुनाव अभियान भी कुल मिलाकर साधन वालों को ही सूट करता है। कांग्रेस के, जो दस साल के शासन की मुख्य खिलाडी रही है, आनंद शर्मा का आरोप है कि भाजपा इस बार दस हजार करोड़ खर्च कर रही है। हिंदुस्तान टाइम्स ने एक विज्ञापन एजेंसी के बड़े अधिकारी को उद्धृत करके कहा कि भाजपा का खर्च कांग्रेस से चार गुना तो होगा ही। यह बात मान भी ली जाए तो खुद कांग्रेस कोई दरिद्र पार्टी नहीं ठहरती है। उसके नेता राहुल गांधी के इमेज मेकिंग पर ही सैकड़ों करोड़ खर्च होने की चर्चा होती रही है। भाजपा के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार के प्रचार और इमेज मेकिंग का जिम्मा एक विदेशी एजेंसी के पास है। जाहिर है रस में जो जितना आगे या पीछे है उसका खर्च भी उसी हिसाब का है, बसपा कमजोर न हो पर वह अभी भी मालदार उम्मीदवार उतार कर अपनी लड़ाई को दूसरों के सहारे लड़ लेती है। सबसे नए और उत्साही आम आदमी पार्टी ने खुला पैसा मंगाया है और काफी उत्साह से पैसे आए भी पर उसका

खजाना बहुत जल्दी खाली हो गया और चुने हुए उम्मीदवारों के अलावा बाकी सब अपने या भगवान भरोसे लड़ने के लिए छोड़ दिए गए।

यह तब हुआ जब कालाधन और भ्रष्टाचार ही मुख्य मुद्दा है। जाहिर है कोई भी मुख्य खिलाड़ी इस सवाल पर ईमानदार नहीं है। सब एक-दूसरे पर झूठा होने का आरोप लगा रहे हैं पर असल में सभी झूठ बोल रहे हैं। अब नई सरकार कौन बनाएगा और इस समस्या से कौन निजात दिलाएगा यह भविष्यवाणी करने की जरूरत नहीं है पर इस सवाल पर नई सरकार से उम्मीद करना व्यर्थ ही है और जब कालाधन की मुहिम चलाने वाले बाबा रामदेव इस मसले पर कैमरे के सामने कुछ गड़बड़ करते पकड़े गए तो बाकी पर कौन भरोसा करेगा। साधु-संतों का चुनाव लड़ना-लड़वाना और रविशंकर महाराज से लेकर बाबा रामदेव तक की साधुअई पर सवाल न भी उठाया जाए तो इतना साफ लग रहा है कि जो मंच कालेधन से बना हो और जो चुनाव खुलकर कालेधन का खेल बन गए हों उनसे सफाई की उम्मीद नहीं की जा सकती और यह भी कि इस व्यवस्था में किसी भी गरीब के लिए ही नहीं सामान्य आय वाले व्यक्ति के लिए चुनाव लड़ना या बड़ी पार्टी से टिकट पा लेना लगभग असंभव काम बन गया है। अब बेचारे एडीआर के पास यही विकल्प बचता है कि वह हर चुनाव में उतरने वाले करोड़पतियों और अपराधियों की सूची जारी करता रहे क्योंकि इससे ज्यादा करना उसके या किसी के वश में नहीं लगता।

आज भ्रष्टाचार जिस तरह से 'कोलेसिव' अर्थात कई लोगों के मिल-जुलकर करने वाला काम बन गया है और अक्सर वसूली का काम गरीब लेकिन महत्वाकांक्षी नौजवान या छोटे स्तर के बाबू के जिम्मे सौंप दिया जाता है और सबसे ज्यादा फायदा लेने वाला सुरक्षित बैठ रहा है वैसे ही हिंसा का मामला भी है। कोई गली का बदमाश या बेरोजगार महत्वाकांक्षी लड़का जो हिंसा या हत्या करता है उसका अंतिम लाभ कौन और कैसे लेता है यह समझना मुश्किल है। बड़े-बड़े आईएएस और आईपीएस प्रमोशन या शासक की नजर में चढ़ने के लिए जब कुकर्म करें और जेल तक जाने को तैयार हों तो कोई नेता क्यों अपने हाथ खून से रंगा दिखाना चाहेगा। अब सामंती युग नहीं रहा कि नरमुंड लाना बहादुरी और बख्शीश दिलाने का काम हो। सो हिंसा में भी छुटभैय्या दादा जितने खूंखार लगे असल में सूत्रधार बड़े लोग हैं यह भी इस चुनाव के दौरान जाहिर होने लगा है। जब हजारों निर्दोष और कमजोर लोगों की हत्या का आरोप सीधे मोदी महाराज पर ही हो तो दो-चार

हत्या या लूट वाले 'बेचारों' पर उंगली उठाने का बहुत मतलब नहीं रह जाता।

इस चुनाव में नरेंद्र मोदी का प्रधानमंत्री बनना न बनना सबसे बड़ा मुद्दा बन चुका है। कांग्रेस भी लड़ना छोड़कर मोदी को रोकने की रणनीति पर ही काम करती लगती है और आप मोदी के प्रशंसक हों न हों पर यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि उस आदमी ने उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे इलाकों में भी अपने नाम का डंका बजवा लिया है-शेष भारत में भी भाजपा के किसी नेता से ज्यादा चर्चा उनके नाम की है। और उत्तर प्रदेश में जो पार्टी पिछली बार अजित सिंह के सहारे चौथे नंबर पर थी वह इस बार अपने दम पर एक नंबर पर दिखती है और हर दल मेलजोल कर उसे रोकना चाहता है पर कितना रोक पाया है यह तो भविष्य बताएगा। बिहार में भी सारे जातिगत ध्रुवीकरण के बावजूद अगर भाजपा मजे से सभी जगह मुकाबले में आ गई लगती है तो यह किसी चमत्कार से कम नहीं है और आप मोदी के अलावा इसका श्रेय किसी और को नहीं दे सकते। पर यह भी सच है कि मोदी का खड़ होना भी कापोरेट और मीडिया जगत के सहयोग से हुआ है।

यह चुनाव इन चीजों के साथ लोकतंत्र के मजबूत होने के रूप में भी याद किया जाएगा। चुनाव आयोग की जो सीमाएं हों, एडीआर जैसी संस्थाओं की जो भूमिका हो, मीडिया में जो कमी-बेसी हो, हमारे इन 'खिलाड़ियों' की जो सीमा हो पर इतना तो तय है कि इस चुनाव में लोगों ने जिस उत्साह से भागीदारी की है वह अपूर्व है। अब कई लोगों को यह एक विरोधाभास लग सकता है। ऐसा मानने में हर्ज नहीं है। पर जिस तरह हम अपराध, जातिवाद और सांप्रदायिकता को गलत मानते हुए भी इस तरह के उम्मीदवारों के पक्ष में वोट देते हैं तभी ऐसे लोगों से संसद और विधान सभाएं भरती जा रही हैं वैसे ही इस विरोधाभास में देश की सच्चाई है और हम आप बीमारी भी बढ़ाते हैं और इलाज भी रखते हैं यह पुष्टि होती है। अगर लोक तंत्र रहा, आजादी रही और लोकतंत्र का मतलब बहुमत का अंध राज नहीं लगाया गया (जिसे अंगरेजी में मेजोरिटेरियनिज्म कहते हैं) तो वह अपनी बीमारियों का इलाज खुद करने में सक्षम है। इस तरह से ये चुनाव निराशा के साथ आशा को भी सामने लाते हैं। उम्मीद करनी चाहिए कि जो समाधान हमारे कथित नेताओं और दलों के लिए संभव नहीं है वह जनता खुद ही मतों के जरिए कर दे। ऐसा पहले भी हुआ है। पर याद रखना होगा कि हिटलर भी चुनाव के रास्ते ही आया था।

-अरविंद मोहन

## घोषणापत्र और गैरबराबरी

### गैरबराबरी पर बढ़ती दुनिया की चिंता भारतीय दलों के जेहन से गायब है

भारतीय लोकतंत्र के सबसे बड़े त्यौहार के मौके पर सभी प्रमुख पार्टियों ने अपने-अपने घोषणापत्र जारी किए। इनमें अनेक लुभावने वादे और घोषणाएं हैं। लेकिन आज के भारत का एक प्रमुख मुद्दा इन घोषणापत्रों से करीब-करीब नदारद है और वह है गैरबराबरी। जबसे भारत ने वैश्वीकरण के दौर में प्रवेश किया है और अपना नवउदारवादी रूपांतरण किया है, भारत में गैरबराबरी बहुत तेजी से बढ़ी है। अमीर बेहद अमीर बनते जा रहे हैं, गरीब अपनी जगह हैं या और गरीब बनते जा रहे हैं। अमीर-गरीब की खाई बढ़ती जा रही है।

भले ही भारत आज भी प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से दुनिया के देशों में बहुत नीचे 132 या 133 वें नंबर पर हो, भारत में अरबपतियों-करोड़पतियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। अंतरराष्ट्रीय पत्रिका 'फोर्ब्स' हर साल दुनिया के डालर-अरबपतियों (यानी जिनकी संपत्ति 1 अरब डालर या 60 अरब रूपए से ज्यादा हो) की सूची निकालती है, उनमें कई भारतीय नाम दिखाई देने लगे हैं। नब्बे के दशक के मध्य में भारत में केवल 2 डालर-अरबपति थे। इस दशक के आरंभ में उनकी संख्या 6 थी। और 2014 आते-आते यह संख्या 58 हो गई। संयुक्त राज्य अमरीका, चीन, रूस और जर्मनी के बाद पांचवें नंबर पर भारत में ही सबसे ज्यादा डालर-अरबपति हैं। साफ है कि देश का पैसा कहां जा रहा है।

देश की कुल संपत्ति में इन डालर-अरबपतियों का हिस्सा 2003 में 1.8 फीसदी था। केवल पांच साल में 2008 में यह हिस्सा बढ़कर 26 फीसदी हो गया। यानी इस देश की 120 करोड़ की आबादी में केवल 50-55 परिवार देश की चौथाई से ज्यादा संपत्ति के मालिक हैं। भारत दुनिया के सबसे ज्यादा गरीबी और सबसे ज्यादा गैरबराबरी वाले देशों में से एक है। लेकिन यह भारत के प्रमुख राजनैतिक दलों

की चिंता का विषय नहीं है।

विडंबना यह है कि इन दिनों बढ़ती हुई विषमता को लेकर दुनिया के स्तर पर चिंता और चेतना बढ़ी है। पिछले कुछ समय से इस बारे में कई रपटें निकली हैं। जनवरी 2014 में दावोस के सालाना विश्व आर्थिक सम्मेलन के मौके पर संयुक्त राष्ट्र विकास प्रोजेक्ट की 2013 की रपट 'विभाजित मानवता: विकासशील देशों में गैरबराबरी से सामना' प्रकाशित हुई। इस रपट का कहना है कि जिन्हें 'उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएं' कहा जा रहा है, उन देशों में आर्थिक प्रगति ने विषमताओं को घटाने के बजाय बढ़ा दिया है। पिछले दो दशकों में गैरबराबरी में वृद्धि मुख्य रूप से व्यापार और वित्त के वैश्वीकरण के कारण हुई है जिसने पूंजी के मुकाबले श्रम की सौदाशक्ति को काफी घटा दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की विश्व सामाजिक स्थिति, 2013 की रपट 'गैरबराबरी महत्वपूर्ण है' का कहना है कि गैरबराबरी से न केवल विकास में रुकावट आती है, बाजार में अस्थिरता और जोखिम भी बढ़ते हैं। ऑक्सफेम की 2014 में ही 'मुट्टी भर का राजनैतिक वर्चस्व और आर्थिक गैरबराबरी' शीर्षक से जारी रपट कहती है कि अत्याधिक गैरबराबरी से अर्थव्यवस्था और राजनीति पर कुछ लोगों का नियंत्रण हो जाता है। वे अपने हित में आर्थिक नीतियां बनाते हैं और गरीबी बनी रहती है।

संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास परिषद (अंकटाड) की 2010 की 'व्यापार और विकास रपट' कहती है कि मजदूरी बढ़ेगी तो कुछ मांग बढ़ेगी और उसी से विकास एवं वृद्धि का पुख्ता आधार बनेगा। निर्यात की मांग पर आधारित वृद्धि कभी भी धराशाई हो सकती है।

यह दुनिया की बढ़ती हुई समझ है। लेकिन भारत के राजनेताओं की समझ इससे अलग और उल्टी है।

### वार्ता के लिए लिखें

सामयिक वार्ता के लिए लेख, अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण लेखों के अनुवाद, साक्षात्कार, रपट, गतिविधियों के समाचार और टिप्पणियां आमंत्रित हैं। लेख और रपट वार्ता के मिजाज के अनुकूल हों तो बेहतर होगा।

वार्ता में प्रकाशित सामग्री पर आपकी प्रतिक्रिया, टिप्पणियों और पत्रों का भी हमें इंतजार रहेगा। भाषा, टायपिंग और प्रूफ की गलतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करें तो हमें मदद मिलेगी।



# जहां बड़ी कंपनियां हैं, वह याराना पूंजीवाद है

अमित भादुरी

*बड़ी कंपनियों का विकास होने के बाद अब जो पूंजीवाद है, वह याराना पूंजीवाद ही है। अमरीका-जापान में वह दिखाई नहीं देता, क्योंकि वहां संपन्नता है और वे दूसरे देशों को लूटते हैं। लातीनी अमरीका में याराना तत्वों को काबू करने की कुछ कोशिश हुई है। लेकिन वित्तीय पूंजी और उसकी सट्टेबाजी को नियंत्रित करना जरूरी है।*

*(फोन पर बातचीत पर आधारित)  
प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमित भादुरी  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। दुनिया के कई देशों के आर्थिक सलाहकार भी रहे हैं।*

*पता: ए-12,  
आईएफएस अपार्टमेंट,  
मयूर बिहार फेज-1, नई  
दिल्ली-110091  
फोन: 011-22752445*

*abhaduri40  
@hotmail.com*

पूंजीवाद और याराना पूंजीवाद में यही फर्क है कि इसमें संस्थाओं (जैसे न्यायपालिका, प्रशासन और अन्य नियामक संस्थाएं) को इतना कमजोर बना दिया जाता है कि व्यक्तियों को आसानी से अनुचित फायदे पहुंचाए जा सकें। ऐसी हाल में नई संस्थाएं (जैसे लोकपाल) बनाने से कोई फायदा नहीं है, क्योंकि ये नई संस्थाएं भी उन्हीं दबावों का शिकार होंगी।

याराना पूंजीवाद को छोड़कर पूंजीवाद के समर्थन का मतलब यही है कि सारे पूंजीपतियों (जिंदल, अदानी या अंबानी) के साथ एक समान बरताव हो। मजबूत संस्थाएं एक के बाद एक चोरी को पकड़कर (जैसे 2जी स्पेक्ट्रम घोटाला, कोयला घोटाला) इसे एक हद तक हासिल कर सकती हैं। लेकिन ज्यादातर मामलों में तब तक काफी बड़ा नुकसान तो हो ही चुका होता है।

एक दूसरी स्थिति यह है कि बुर्जुआ लोकतंत्र में संस्थाएं तो मजबूत रहती हैं लेकिन पूंजीपतियों को फायदे पहुंचाने के लिए नियम व कानून ही बदल दिए जाते हैं। जैसे इंग्लैंड में मार्गरेट थैचर और टोनी ब्लेयर के वक्त किया गया। पहले इराक पर हमले और अभी सीरिया में हस्तक्षेप के लिए जिस तरह राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय नियम-कानूनों को ही बदला जा रहा है, वह भी इसका उदाहरण है।

तीसरी स्थिति यह है कि लोकतंत्र अच्छी तरह चल रहा है, लोग उनकी रोजमर्रा की जिंदगी से जुड़े फैसले लेने में भागीदारी भी करते हैं, लेकिन उच्च-स्तरीय और नीतिगत फैसले लेने के काम को लोगों से काट दिया जाता है। फैसले लेने के इन दो क्षेत्रों को पूरी तरह अलग कर दिया जाता है। जापान इसका बढ़िया उदाहरण है। जापान को दुनिया का सबसे कम

भ्रष्ट (भ्रष्टाचार के अन्ना हजारे वाले अर्थ में) देश में माना जाता है। वहां यदि आप का बटुआ बैंक में छूट जाए, तो लोग पूरा दिन लगाकर खोजकर आप तक वापस पहुंचाते हैं। मुझे खुद इसका अनुभव हुआ। किंतु दूसरा पहलू देखें। फुकुशिमा की दुर्घटना के बाद वहां पर जनमत परमाणु बिजली के खिलाफ हो गया। जापान का पिछला प्रधानमंत्री परमाणु बिजली को पूरी तरह बंद करने के पक्ष में था। लेकिन परमाणु लॉबी इतनी तगड़ी है कि उसे हटा दिया गया और नया प्रधानमंत्री आया जो परमाणु बिजली को जारी रखने की बात कर रहा है।

तो कुछ मामलों में सरकारें भी बदल दी जाती हैं। यह भ्रष्टाचार अरविंद केजरीवाल, मनीष सिसोदिया या प्रवासी भारतीयों को समझ में नहीं आता। एक भ्रष्टाचार होता है रूपए-पैसे का। एक दूसरा भ्रष्टाचार है जिसमें आप नीतियों को स्पष्ट नहीं करते और सुविधानुसार फैसले लेते रहते हैं। इस मायने में आम आदमी पार्टी भी भ्रष्ट है।

इस मामले में गांधी और माओ से हम सीख सकते हैं। मैं गांधी से पूरा सहमत नहीं हूँ, लेकिन गांधी ने पूरी जिंदगी और माओ ने अपनी जिंदगी के अंतिम हिस्से में हर फैसले में लोगों को शामिल करने की कोशिश की। ऐसा होने पर आपकी राजनीति का चरित्र भी बदलने लगता है।

क्या पूंजीवाद को याराना पूंजीवाद से अलग करना संभव है ?

शुरु में यह संभव था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों के इंग्लैंड में यह संभव था। तब तक बड़ी-बड़ी कंपनियों का विकास नहीं हुआ था। औद्योगिक पूंजी और राजसत्ता का वैसा मेल

नहीं हुआ था, जैसा बाद में हुआ। तब सामंती तत्वों का सत्ता से मेल था, लेकिन उनका क्षय हो रहा था। यदि एक पूंजीवादी राज्य (सरकार) ताकतवर पूंजीवाद का विकास करना चाहता है तो उसे विशेष रियायतें देना पड़ता है। जैसे संसाधनों को लूटने के लिए भ्रष्ट औद्योगिक घरानों को सरकारी नीतियों द्वारा मदद करना। पूंजी निवेश के लिए यही प्रोत्साहन होता है और सरकारें इस पर निर्भर करती हैं। यह एक सामान्य नियम है। जापान, संयुक्त राज्य अमरीका आदि इस मायने में भ्रष्ट हैं, कुछ मायनों में तो भारत से भी ज्यादा। वहां यह दिखाई नहीं देता, क्योंकि वहां पर पूंजीवाद समर्थक नीतियों के निर्धारण से साधारण होते (कल्याणकारी कार्यक्रमों में कटौती की स्थिति को छोड़कर) दूसरी बात यह है कि वैश्वीकरण के इस जमाने में आप बहुराष्ट्रीय कंपनियों के

जरिए दूसरे कमजोर देशों को लूट सकते हैं, जिससे देश के अंदर हमला कम हो जाता है। लेकिन जब से बड़ी-बड़ी ताकतवर कंपनियों का विकास हुआ है, अब पूंजीवाद याराना पूंजीवाद में बदल गया है। एक उदाहरण ओबामा है। 2007-2008 की मंदी की पृष्ठभूमि में राष्ट्रपति बने ओबामा ने तब बहुत कुछ

कहा था- नियमन और नियंत्रण लगाने, जनहितैषी कल्याणकारी कामों पर खर्च बढ़ाने आदि के विषय में। लेकिन वह कुछ नहीं कर पाया। वित्तीय पूंजी की ताकत बहुत बढ़ गई है।

ब्राजील के पिछले राष्ट्रपति लूला ने भी बहुत कोशिश की। मैं खुद उनका सलाहकार रहा। लूला एक साधारण मजदूर की पृष्ठभूमि से आए थे। लूला ने खासतौर पर अपने दूसरे कार्यकाल में व्यवस्थित कोशिश की। सट्टा पूंजी पर नियंत्रण के लिए लेन-देन पर टैक्स लगाया, कई जनहितैषी योजनाएं शुरू की। तो कुछ हद तक आप संस्थाओं व नियमों-कानूनों को तोड़ने-मरोड़ने पर नियंत्रण कर सकते हैं। लेकिन लूला के जाने के बाद वह भी नहीं हो पा रही है।

लातीनी अमरीका की एक और वामपंथी सरकार को ले। वेनेजुएला के चावेज जैसा ही एक्वादोर के राष्ट्रपति कोरीआ का शासन है। मैं उसे व्यक्तिगत रूप से भी जानता हूँ। संयुक्त राज्य अमरीका के जिस विश्वविद्यालय से उसने अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. की, तब मैं भी वहाँ था। बहुराष्ट्रीय

कंपनियों से काफी लोहा लेने के बाद अब वह भी उन्हें कुछ रियायतें देने को मजबूर हो गया है। पूंजीवादी लोकतंत्र में खुद की सरकार को बचाने के लिए शायद यह जरूरी हो गया है।

दरअसल, लातीनी अमरीका में लंबे समय से चले आ रहे संयुक्त राज्य अमरीका के वर्चस्व के प्रति व्यापक नफरत की प्रतिक्रिया के कारण वामपंथी सरकारों के लिए खदानों, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और कुछ हद तक कारखानों के शोषण में अमरीकी प्रभुत्व वाले पूंजीवाद को नियंत्रित करना संभव हो सका। लेकिन बड़े बहुराष्ट्रीय बैंकों के वर्चस्व वाले वित्तीय क्षेत्र को नियंत्रित करने में उन्हें ज्यादा सफलता नहीं मिली। कईयों ने और मैंने भी विदेशी मुद्रा लेन-देन पर एक ऊंचा 'लेन-देन शुल्क' लगाने का

*हर क्षेत्र में पूंजीवाद का मूलमंत्र है सफलता को महिमामंडित करना और उसे और ज्यादा ऊंची सफलता के सोपानों पर पहुंचाना। शक्ति, संपत्ति और क्षमता के केंद्रीकरण से शीर्ष पर पहुंचे कथित 'सफल' लोग कानूनों के पालन में, यहां तक कि कानूनों को बनाने में भी, अपने विजी स्वार्थ के घोड़ों को बेलगाम छोड़ देते हैं। राज्य और पूंजीपतियों के शीर्ष तबकों के बीच सांठगांठ बढ़ती जाती है।*

सुझाव दिया, जिससे सट्टेबाजी के सौदों पर रोक लगे। लेकिन इससे आंशिक रूप से ही किया जा सका। भारत में भी इस तरह का शुल्क लगाने की जरूरत है। छह सात साल पहले मैंने इसके बारे में एक लेख इंडियन एक्सप्रेस को भेजा था, लेकिन उन्होंने इसे प्रकाशित नहीं

किया। माकपा या आम आदमी पार्टी जैसी पार्टियों के एजेंडा में भी यह नहीं है।

## सूचनाएं

यदि आप वार्ता का शुल्क मनिऑर्डर से भेज रहे हैं, तो कृपया अपना पता अलग से (डाक से, एसएमएस से या ईमेल से) जरूर भेज दें। आज कल मनिऑर्डर इलेक्ट्रॉनिक तरीके से आने के कारण पूरा और स्पष्ट पता नहीं मिलता है।

यदि आप वार्ता का शुल्क सीधे बैंक खाते में जमा कर रहे हैं, तो कृपया हमें सूचना जरूर दें। अपना पता अलग से हमें भेज दें।

-प्रबंधक

फोन 09993737039

# गुड़ खाएं और गुलगुले से परहेज करें

कमलनयन काबरा

शुद्ध पूंजीवाद केवल किताबों में मिलता है। पूंजीवाद में सफल की जय-जयकार होती है और उसकी ताकत बढ़ते हुए वह सरकार, कानूनों, नियमों को अपने हिसाब से चलाने लगता है। याराणा पूंजीवाद एक सामान्य प्रवृत्ति है। छोटे पूंजीपति और मध्यवर्ग भी इस लूट में पीछे छूट रहे हैं और इसलिए भ्रष्टाचार के विरोध में शामिल हो रहे हैं।

भारतीय अर्थशास्त्र में परिचित नाम कमलनयन काबरा दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज में प्रोफेसर रहे। पिछले कई सालों से 'वैकल्पिक आर्थिक समीक्षा' निकालने वाली टीम के मुखिया हैं।

पता:

बी - 202, आनंदलोक पूर्वांश, मयूर विहार-1, दिल्ली - 110091  
फोन: 011-22792630

kamal.kabra@gmail.com

कोई आस्तिक हो, किंतु कहे कि मैं अवतारों का विरोधी हूँ तो क्या यह विश्वसनीय, तर्कसंगत और गंभीर विचार माना जाएगा? गुड़ खाकर गुलगुलों से परहेज बहुत दूर नहीं जा सकता। यही बात पूंजीवाद और याराणा पूंजीवाद में फर्क करने के बारे में कही जा सकती है।

पूंजीवाद एक अमूर्त विचार या अवधारणा है। यह एक पूरी समाज व्यवस्था और उसकी अर्थव्यवस्था के मूलभूत मूल्यगत, वैचारिक व संस्थागत पहलुओं, संचालन तथा विकास के नियमों, परिवर्तन की प्रक्रियाओं और शक्तियों आदि को एक अमूर्त सैद्धांतिक ढांचे में बांधता है। लेकिन जरूरी नहीं कि इस तरह की व्यवस्था असलियत में जमीन पर मौजूद हो।

पुरानी व्यवस्था के गर्भ से, उसकी जगह लेते हुए, पूंजीवाद का प्रस्फुटन अनेक देशों में धीरे-धीरे हुआ। इसलिए पूंजीवाद की ठोस जमीनी हकीकत पर उन विविध परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा, जिनमें इसका उदय हुआ। विविध प्रक्रियाओं, विवशताओं, प्रभावों और फैसलों के बीच रूप ग्रहण करती इस व्यवस्था में एकरूपता की उम्मीद करना या अमूर्त सैद्धांतिक अवधारणा से संगति की अपेक्षा करना वाजिब नहीं है। सीधे शब्दों में, पूंजीवाद की अमूर्त सैद्धांतिक अवधारणा और उसकी वास्तविक कार्यप्रणाली तथा उसमें परिवर्तनों का क्रम निश्चित रूप से जमीनी हकीकत के स्तर पर अलग-अलग होंगे। अनेक किस्म के पूंजीवाद जमीनी हकीकत है।

आज हम अनेक देशों में पूंजीवाद का एक यथार्थ रूप में प्रचलित रूप या मॉडल देख रहे हैं। खासतौर पर भारत और उससे

मिलते-जुलते देशों में जो रूप दिखाई दे रहा है, उसे इन दिनों 'याराणा पूंजीवाद' कहा जाने लगा है। पूत के पांव पालने में ही दिखने लगते हैं। यह निजाम करीबन विश्वव्यापी-सा हो गया है। इन सब प्रक्रियाओं में नैतिकता, सामाजिकता, पारस्परिक मानवीयता और सौहार्दपूर्ण संबंधों का पुट घटता-बढ़ता रहा है।

असली सवाल है कि कैसे और क्यों पूंजीवाद ने एक ऐसा चरित्र बनाया जिसे 'याराणा पूंजीवाद' कहा जाता है। यह सवाल पूंजीवाद के तहत राज्य की भूमिका, उसके चरित्र और पूंजीपतियों के विभिन्न वर्गों के साथ राज्य के संबंधों से जुड़ा हुआ है। पूंजीवाद के आदर्श सैद्धांतिक ढांचे में राज्य का पूंजीपतियों से वैसा ही संबंध होता है जैसा शेष नागरिकों के साथ होता है। पूंजीपतियों की आपसी प्रतियोगिता में राज्य सबसे समान दूरी रखता है और एक तटस्थ भूमिका निभाता है। राज्य सबके साथ एक समान व्यवहार करे, यह एक आदर्श अपेक्षा है। किंतु-पूंजीवाद में सफलता पाने वालों की शक्ति बढ़ती है। दूसरों के मुकाबले कुछ पूंजीपति सफलता और समृद्धि की ऊंची सीढ़ियां चढ़ते हैं और राज्य को भी प्रभावित करते हैं। इन लोगों का रुतबा, आधिपत्य और दबदबा दूसरों की तुलना में बढ़ता है। कालांतर में वे स्वयं राज्य के ऊंचे ओहदों पर बैठने लगते हैं। कुछ पूंजीपति बाजार की प्रतियोगिता में अपनी बेहतर स्थिति, क्षमता और प्रभाव का फायदा उठाकर मुनाफा हथियाने के स्रोतों पर ज्यादा से ज्यादा काबिज होने लगते हैं।

कई बार लोकतांत्रिक दबाव में राज्य इस तरह की प्रतियोगितानाशक कारगुजारियों

पर शिकंजा कसने का प्रयास करता है या ऐसा करने का उपक्रम करता है। किंतु हर क्षेत्र में पूंजीवाद का मूलमंत्र है सफलता को महिमामंडित करना और उसे और ज्यादा ऊंची सफलता के सोपानों पर पहुंचाना। शक्ति, संपत्ति और क्षमता के केंद्रीकरण से शीर्ष पर पहुंचे कथित 'सफल' लोग कानूनों के पालन में, यहां तक कि कानूनों को बनाने में भी, अपने निजी स्वार्थ के घोड़ों को बेलगाम छोड़ देते हैं। राज्य और पूंजीपतियों के शीर्ष तबकों के बीच सांठगांठ बढ़ती जाती है। प्रभावशाली शीर्षस्थ पूंजीपति राज्य पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हावी होते जाते हैं। वे स्वयं राज्य बन जाते हैं और राजकीय तबका स्वयं व्यवसायी बन जाता है। सफेदपोश अपराधी पूरी राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर छा जाते हैं। काली (गैरकानूनी) अर्थव्यवस्था सामान्य स्थिति बन जाती है। लोकतंत्र धनतंत्र बन जाता है और पूरी अर्थव्यवस्था का चरित्र बदल जाता है। पूंजीवाद और लोकतंत्र का किताबी-सैद्धांतिक मॉडल केवल किताबों, प्रचार और कट्टरपंथी कठमुल्लों के वितंडावाद तक सीमित रह जाता है। हकीकत में लागू पूंजीवाद है याराना पूंजीवाद, जो पूंजीवाद की अनिवार्य, सर्वमान्य उभरती प्रवृत्ति है और व्यवहारिक जमीनी स्तर पर हो रहे उसके विकृतिकरण का अनिवार्य नतीजा है। केवल इस विकृति का विरोध करना और उसके मूल उत्स को भूलना आपस में संगत नहीं है, दिखावा, छल या भ्रम है।

भारत के मौजूदा पूंजीवाद और लोकतंत्र में इन प्रवृत्तियों को खुलकर खेलने के अवसर सुगमता से और विशेष तौर पर मिल गए। आजादी मिलने के बाद हमारे निरंकुश विदेशी शासन तंत्र के ढांचे में ज्यादा बदलाव न करते हुए समानता, न्याय और भाईचारे के उदात्त सिद्धांतों की नींव पर लोकतंत्र खड़ा किया गया। किंतु हमारी सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक व्यवस्था की पोर-पोर में विषमता, विशेषाधिकार और प्रभुत्वशालियों का दबदबा रमा हुआ रहा है, बढ़ा है। आर्थिक वृद्धि (राष्ट्रीय आय की वृद्धि) पर जोर ने सामाजिक-आर्थिक गैरबराबरी को और बढ़ाया है जिसमें बहुसंख्यक लोग हाशिये पर जाते रहे हैं। जातिगत विषमता, गैरबराबरी की कई सीढ़ियों और आर्थिक-शैक्षणिक-सांस्कृतिक-सामाजिक क्षमताओं के केंद्रीकरण और विकास नीति ने हमारी समाज-रचना, राज्य और प्रशासन को विषमतामय बना दिया है। विकास की योजनाएं और कार्यक्रम अपर्याप्त,

विरोधाभासी और दिखावटी बनकर रह गए हैं। इस हालत में भ्रष्टाचार कोई अपवाद नहीं है, रोजमर्रा के सामान्य व्यवहार और कार्यप्रणाली का हिस्सा बन गया है। याराना पूंजीवाद यह दिखाता है कि भ्रष्टाचार के फायदे और उसमें हिस्सेदारी भी गैरबराबर हो गई है। सरकार, सरकारी दल, बड़े विपक्षी दल और उनमें अपने को शीर्ष पर बनाए रखने में सफल परिवार और सीमित गिरोहनुमा आलाकमान से याराना पूंजीवादी रिश्ते वाले बड़े पूंजीपति आगे बढ़ते जा रहे हैं। शेष निचले स्तर के पूंजीपति, छोटी कंपनियां आदि इस बहुआयामी लूट और दोहन में पीछे छूटते जा रहे हैं।

इसलिए भ्रष्टाचार से गुरेज नहीं करने वाला मध्यम वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग तथा निचले पायदानों पर जमे पूंजीपति तथा राजनैतिक छुटभैय्या तबका भी असंतुष्ट है। व्यवस्था पर हावी बड़े योद्धाओं-महारथियों के हक में राज्य के बेहद ज्यादा झुकाव से वे परेशान हैं। ये तबके आज भ्रष्टाचार के विरोध में और याराना पूंजीवाद की ज्यादतियों के विरोध में लामबंद हो रहे हैं। उनका विरोध सीमित है, आत्मकेंद्रित है तथा सर्वव्यापी असली समावेशी विकास की ओर उनकी नजर नहीं पहुंच पा रही है।

## वार्ता शुल्क में मामूली वृद्धि

सामयिक वार्ता का वार्षिक शुल्क बढ़ाकर 150 रु. किया जा रहा है। लेकिन विद्यार्थियों के लिए और जो बढ़ा हुआ शुल्क देने में असमर्थ हैं उनके लिए, रियायती दर 100 रु. ही रखी गई। बाकी शुल्क दरों में कोई बदलाव नहीं किया गया है।

अब शुल्क दरें इस प्रकार हैं-

वार्षिक (व्यक्तिगत)	150 रु.
वार्षिक (संस्था)	200 रु.
वार्षिक (रियायती)	100 रु.
पांच वर्ष	600 रु.
आजीवन	2000 रु.

-प्रबंधक

# पूंजीवाद के भारतीय यार

वैश्वीकरण के दौर में भारतीय अर्थव्यवस्था की सफलता की जो कहानी लिखी गई है, इसके प्रमुख वे हीरो हैं जो जीरो से उठकर वैश्विक पूंजीवाद के शिखर पर पहुंचे हैं। दुनिया के सबसे अमीर लोगों की जो सूची 'फोर्ब्स' पत्रिका हर साल डालर अरबपतियों (एक अरब डालर था मौजूदा दर पर 6000 करोड़ रुपये से ज्यादा की संपत्ति के मालिक) के रूप में जारी करता है उनमें दो दशक पहले इक्का-दुक्का भारतीय नाम हुआ करते थे, अब उनकी संख्या चार-पांच दर्जन तक पहुंच चुकी है। कई भोले भारतीयों का सीना इस पर गर्व से फूल जाता है। इन अरबपतियों की सफलता को पूंजीवाद के पक्ष में तर्क के रूप में भी पेश किया जाता है कि कैसे मेहनत और योग्यता के बल पर कोई नीचे से ऊपर पहुंच सकता है। लेकिन असलियत क्या है? उसकी एक पड़ताल करने की कोशिश यहां की गई है।

भारतीय डालर अरबपतियों का एक विश्लेषण बताता है कि इनमें ज्यादातर वास्तविक उत्पादन के बजाय प्राकृतिक संसाधनों, सेवाओं, जमीन-जायदाद (रीयल स्टेट) आदि के धंधों से जुड़े हैं जिनमें आड़े-तिरछे तरीकों से और अनैतिक तरीकों से बेतहाशा कमाई के मौके पैदा हुए हैं। इनमें वैश्वीकरण की प्रक्रिया के तहत किए गए नीतियों-नियमों-कानूनों में बदलावों ने मदद की है।

याराना पूंजीवाद पर केंद्रित इस अंक में भारतीय पूंजीवाद के कुछ प्रमुख यारों की 'सत्यकथाएं' और 'मनोहर कहानियां' दी गई हैं। पाठक यह न समझें कि इन तीन का मामला बाकी से कुछ अलग या विशिष्ट है। समय की कमी के कारण यहां पर तीन का ही कच्चा चिट्ठा दिया जा रहा है। कोशिश रहेगी कि आगामी अंकों में टाटा, मित्तल, जिंदल, वेदांत, जेपी आदि की भी असलियत को उधेड़ा जा सके।

पूरी जानकारी संकलित की गई है।

पूंजीवाद के दो बहुराष्ट्रीय यारों का किस्सा 'पहल 95' में छापे जितेंद्र भाटिया के लेख से लिया गया है। -संपादक

1

## अंबानी: मुट्टी में सरकारें

“मैं कानून तोड़ता नहीं हूँ, कानून बनाता हूँ।” - धीरुभाई अंबानी

“कांग्रेस तो अपनी दुकान है।”  
- मुकेश अंबानी



भारतीय याराना पूंजीवादी के ताजे इतिहास का संभवतः सबसे चर्चित, सबसे ज्यादा उजागर करने वाला और सबसे ज्यादा हैरतअंगेज प्रसंग नीरा राडिया का है। नीरा राडिया के फोन टेप बहुत कुछ कहानी कहते हैं। इन्हीं से हमें पता चला कि भारत सरकार के मंत्रिमंडल में किस विभाग का मंत्री कौन बने, यह तक पूंजीपति और उनके दलाल तय करने लगे हैं।

इसी टेप का एक प्रसंग इस देश के सबसे अमीर पूंजीपति मुकेश अंबानी से जुड़ा है। बात 2009 की है, जब संसद में भारत सरकार के बजट पर बहस होने वाली थी।

तत्कालीन जदयू राज्यसभा सदस्य और पूर्व आईएएस अफसर एन के सिंह (जो इस चुनाव में भाजपा में शामिल हो गए हैं) राडिया को बताते हैं कि वे मुकेश अंबानी की ओर से जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं कि विपक्ष की

ओर से बहस की शुरुआत अरुण शौरी न करें। दरअसल, वित्तमंत्री प्रणव मुखर्जी ने बजट में एक कर-रियायत दी थी, जिसका एक मात्र फायदा मुकेश अंबानी की रिलायंस गैस ट्रांसपोर्टेशन इन्फ्रास्ट्रक्चर लि. को भारी मात्रा में मिलने वाला था। यह रियायत थी गैस या खनिज तेल पाईप लाईन पर पूंजीगत खर्च पर 100 फीसदी कर माफी। खतरा यह था कि शौरी इसकी आलोचना करेंगे और बहस अंबानी को मिलने वाली इस रियायत पर केंद्रित हो जाएगी। बहरहाल, एन के सिंह को सफलता मिली और बहस की शुरुआत

भाजपा अध्यक्ष वैकय्या नायडू ने की जिन्होंने इस रियायत का समर्थन किया।

## कांग्रेस अपनी दुकान, भाजपा जेब में

इन्हीं टेप में एक जगह मुकेश अंबानी कहते सुनाई देते हैं कि 'कांग्रेस तो अपनी दुकान है'। लेकिन यह प्रसंग बताता है कि भाजपा भी अंबानी की उतनी ही बड़ी दुकान है। और कांग्रेस भाजपा ही क्यों, समाजवादी पार्टी, जदयू सहित तमाम पार्टियों में अंबानियों के एजेंट मिल जाएंगे। अमरसिंह का मामला तो सबको मालूम है। विश्वनाथ प्रताप सिंह एक मात्र प्रधानमंत्री रहे, जिन्हें अंबानी अपने पक्ष में नहीं झुका पाए।

अरूण शौरी का मामला भी विचित्र है। सबसे पहले अस्सी के दशक में स्वदेशी जागरण मंच के एस. गुरुमूर्ति के साथ मिलकर अरूण शौरी ने ही इंडियन एक्सप्रेस में रिलायंस कंपनी की कारगुजारियों के बारे में लेखों की श्रृंखला

लिखी थी। बात यह थी कि रिलायंस और बांबे डाईंग कंपनियों के बीच उस समय पोलिएस्टर रेशे और कपड़े के धंधे में कड़ी प्रतिस्पर्धा चल रही थी। तब भी इंदिरा गांधी के मंत्रिमंडल में प्रणव मुखर्जी वित्तमंत्री थे जिन्होंने करों का निर्धारण इस तरह से किया जिससे रिलायंस को फायदा

और बांबे डाईंग को नुकसान होता था। बांबे डाईंग का मालिक नुस्ली वाडिया इंडियन एक्सप्रेस के मालिक रामनाथ गोयनका का मित्र था। उसके कहने पर लेखों की यह श्रृंखला 1986-87 में निकली थी। फिर भी सरकार की सक्रिय मदद से इस प्रतिस्पर्धा में अंबानी जीता, वाडिया हारता गया।

विडंबना देखिए कि बाद में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार में वही अरूण शौरी विनिवेश मंत्री बने और उनकी देखरेख में इंडियन पेट्रोकेमिकल्स कार्पोरेशन लि. नामक विशाल सरकारी कंपनी के 26 फीसदी शेयर और इस पर नियंत्रण रिलायंस को सौंप दिए गए। इससे भारतीय पेट्रो-रसायन उद्योग पर रिलायंस का वर्चस्व स्थापित हो गया, जिसने इस कंपनी को दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ने में मदद की। बाद में 2003 में धीरूभाई की पहली पुण्यतिथि पर बोलते हुए अरूण शौरी ने बताया कि इस फैसले के

बाद धीरूभाई अंबानी ने उन्हें फोन किया।

उनकी आवाज भावनाओं के अतिरेक से रुंधी हुई थी। उन्होंने कहा "..... मैं कभी नहीं भूलूंगा।..... मुझे धंधे की परवाह नहीं है। मैं रिश्तों की परवाह करता हूँ।..... मेरे परिवार में कोई भी इसे कभी नहीं भूलेगा.....।"

धीरूभाई अंबानी ने सच कहा था। नेताओं, अफसरों और दलालों के साथ इन रिश्तों के बल पर ही अंबानी का विशाल साम्राज्य खड़ा हुआ है। 1957 में गुजरात में धीरूभाई ने 500 रुपए की पूंजी से जिस कारोबार को शुरू किया था, आज वह इतना बड़ा हो चुका है कि उसके दोनों बेटे दुनिया के डॉलर अरबपतियों (यानी 1 अरब डॉलर से ज्यादा संपत्ति के मालिक) की सूची में शामिल हैं। बड़ा बेटा मुकेश अंबानी तो फोर्ब्स की सूची में इस वक्त दुनिया का 40 वें नंबर का सबसे अमीर और भारत का पहले नंबर का सबसे अमीर आदमी बन चुका है। पूंजीवाद के समर्थक इसे एक और मिसाल के रूप में पेश करते हैं कि कैसे मेहनत और प्रतिभा

*पूंजीवाद के समर्थक इसे एक और मिसाल के रूप में पेश करते हैं कि कैसे मेहनत और प्रतिभा के दम पर कोई व्यक्ति नीचे से ऊपर पहुंच सकता है। लेकिन सच यह है कि इस असाधारण उत्कर्ष के पीछे नेताओं-अफसरों से सांठगांठ, नीतियों व नियमों में बदलाव, अनियमितताएं, घोटाले और अनुचित फायदे की प्रवृत्तियों की जबरदस्त कहानी रही है।*

के दम पर कोई व्यक्ति नीचे से ऊपर पहुंच सकता है। लेकिन सच यह है कि इस असाधारण उत्कर्ष के पीछे नेताओं-अफसरों से सांठगांठ, नीतियों व नियमों में बदलाव, अनियमितताएं, घोटाले और अनुचित फायदे की प्रवृत्तियों की जबरदस्त कहानी रही है।

धीरूभाई के जीवनी लेखक हमीश मेकडानोल्ड बताते हैं कि जब युवा धीरूभाई यमन में थे, तब वहां की मुद्रा रियाल का मूल्य उसमें लगी चांदी से कम हो गया था। तब धीरूभाई ने रियाल खरीद कर, गलाकर, उसकी चांदी बेचने का काम शुरू कर दिया था। इस तरह धीरूभाई की व्यवसायिक शुरुआत दो नंबरी गैरकानूनी धंधे से हुई थी।

अंबानी का व्यवसायिक साम्राज्य कपड़े और पोलिएस्टर से शुरू होकर आज पेट्रो-रसायन, तेल एवं तेलशोधन, प्राकृतिक गैस, बिजली उत्पादन एवं वितरण, दूरसंचार, सेज, खुदरा व्यापार (रिलायंस फ्रेश), रीयल एस्टेट, मेट्रो, खनन, बीमा, म्युचुअल फंड, मीडिया आदि अनेक क्षेत्रों में फैल चुका है। वह गुजरात के जामनगर में दुनिया के सबसे बड़ा तेलशोधन कारखाना के मालिक हैं। भारत में सबसे बड़े दो सेज (एक मुंबई के पास और एक गुडगांव-

झज्जर में) स्थापित करने की असफल कोशिश भी रिलायंस कंपनी ने की। मुकेश अंबानी ने अपने रहने के लिए मुंबई में 37 मंजिली इमारत बनाकर विलासिता में पुराने राजाओं-नवाबों को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

## मैं कानून बनाता हूँ...

अस्सी के दशक से क्रमशः उदारिकरण और लाइसेंसों की जरूरतों को कम करने का जो सिलसिला चला और जो 1991 के बाद पूरी रफ्तार से दौड़ने लगा, उसका अंबानी घराने ने खूब फायदा उठाया। बल्कि कहा जा सकता है कि इनमें से कई नीतिगत बदलाव और नियम-कानूनों में बदलाव तो अंबानी जैसे पूंजीपतियों को उपकृत करने और बदले में स्वयं लाभान्वित होने के लिए ही शायद सरकारों में बैठे लोग लाए। जैसे खादी, हैंडलूम और लघु उद्योगों के लिए आरक्षण और मदद को धीरे-धीरे कम करने और खोलने का फायदा रिलायंस के कपड़ा व्यवसाय को मिला है। दूरसंचार और टेलीफोन व्यवसाय को निजी कंपनियों के लिए खोलना, एकाधिकारी एवं अनुचित व्यापार तरीके (एमआरटीपी) कानून में ढील, तेल और गैस की खोज की नई नीति और तेल-गैस भंडारों को निजी कंपनियों के हवाले करना, विनिवेश यानी सरकारी कंपनियों को निजी हाथों में देना, खुदरा व्यापार और फल-सब्जी के व्यापार में बड़ी कंपनियों को इजाजत देना, बिजली का निजीकरण, निजी क्षेत्र में खदानों को इजाजत देना, बीमा का निजीकरण, निजी कंपनियों को विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) बनाने देने की नीति, आदि नीतिगत परिवर्तनों का रिलायंस ने भरपूर फायदा उठाया है।

इसीलिए धीरूभाई अंबानी बड़े गर्व से कहते थे, "मैं कानून तोड़ता नहीं हूँ, कानून बनाता हूँ"। लेकिन सच यह भी है कि जहां अपने व्यवसायिक हितों के लिए जरूरत पड़ी, वहां नियम-कानूनों को ताक में रखने और तोड़ने-मरोड़ने तथा अवैध और अनैतिक तरीकों का इस्तेमाल करने में भी अंबानी घराना पीछे नहीं रहा। आस्ट्रेलियन पत्रकार हमीश मेकडोनाल्ड द्वारा लिखी धीरूभाई की अंबानी की जीवनी 'द पोलिप्लेक्स प्रिंस', अरूण अग्रवाल की किताब 'रिलायंस:द रीयल नटवर' और परंजय गुहा ठाकुरती की शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक 'गेस वार्स-पर्सपेक्टिव्स इन क्रोनी केपिटलिज्म: अंबानी ब्रदर्स एंड द बैटल ऑफ इंडियाज रिसोर्सेज' में ऐसे कई किस्से भरे पड़े हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

## और कानून तोड़ता भी हूँ

1993 में पी वी नरसिम्हाराव सरकार के पेट्रोलियम मंत्री कैप्टन सतीश शर्मा के समय में पन्ना-मुक्ता तेल क्षेत्र को खोज के लिए रिलायंस और एस्सार के संयुक्त उपक्रम को दिया गया था। महानियंत्रक और लेखा परीक्षक (सीएजी) ने इस ठेके पर आपत्तियां उठाई और सीबीआई ने जांच शुरू की। सतीश शर्मा के सचिव बीएन सफाया ने सीबीआई को बताया कि मुकेश अंबानी सतीश शर्मा के घर और दफ्तर बार-बार आते थे। अंबानी के एक प्रतिनिधि सतु रमन ने जून 1993 में एक करोड़, अक्टूबर 1993 में एक करोड़ और दिसंबर 1993 में दो करोड़ रूपए पहुंचाए थे। किंतु बाद में इस मामले को सबूत के अभाव में खतम कर दिया गया।

गुरुमूर्ति और अरूण शौरी ने 1986-87 में इंडियन एक्सप्रेस में जो लेख लिखे, उनमें रिलायंस की कपड़ा मिलों द्वारा लाईसेंस शर्तों के उल्लंघन की जानकारी तो थी ही, एक किस्सा 'आइले ऑफ मेन' नामक अंतरराष्ट्रीय कर-चोरी के अड्डे द्वीप का भी था। वहां की कई संदेहास्पद कंपनियों ने (जिनके हास्यास्पद नाम थे जैसे क्रोकोडायल इनवेस्टमेंट्स, आयोटा इनवेस्टमेंट्स, फियास्को इनवेस्टमेंट्स) रिलायंस इंडस्ट्रीज लि. के शेयर बाजार कीमतों की 20 फीसदी दरों पर खरीदे थे। इनमें से ज्यादातर फर्मों के मालिकों का सरनेम शाह था। यानी संभावना इस बात की थी कि अंबानी ने ही अपना दो नंबर पैसा इस रास्ते से अपनी कंपनी के शेयर सस्ती दरों पर खरीदने के लिए किया था। लेकिन भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा की गई जांच में इस मामले में कोई गलत चीज नहीं पाई गई।

इनमें से एक लेख में बताया गया था कि कई बैंकों ने 50 से ज्यादा ऐसी फर्मों को कर्ज दिया था, जिनने सबने रिलायंस इंडस्ट्रीज लि. से जारी ऋणपत्रों को खरीदा था।

2007 में रिलायंस इंडस्ट्रीज में रिलायंस पेट्रोलियम लि. का विलय हुआ। इसमें 'इनसाइडर ट्रेडिंग' (अंदरूनी जानकारी का अनुचित फायदा शेयरों की खरीद-बिक्री में उठाना) के द्वारा 513 करोड़ रूपए का अनुचित फायदा उठाने का नोटिस सेबी (सिक्वोरिटीज एंड एक्सचेंज बोर्ड ऑफ इंडिया यानी भारतीय शेयर बाजार का नियामक बोर्ड) ने दिया है और मामला अदालत में है।

2011 में ही सेबी के पूर्णकालिक सदस्य के एम अब्राहम ने प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर शिकायत की कि रिलायंस और कुछ अन्य कंपनी घरानों के खिलाफ मामलों

में आपसी सहमति से सुलहनामा करने के लिए वित्तमंत्री प्रणव मुखर्जी, उनके सलाहकार ओमिता पॉल और सेबी अध्यक्ष यूके सिन्हा की ओर से दबाव डाला जा रहा है। उन्होंने बताया कि रिलायंस इंडस्ट्रीज लि. ने 500 करोड़ रुपए का अनुचित फायदा लिया है और इसके तीन गुना तक राशि का जुर्माना उस पर हो सकता है।

31 अगस्त 2011 को सिंगापुर के भारतीय उच्चायोग ने भारत सरकार को एक पत्र भेजकर वहां की 'बायोमेट्रिक्स मार्केटिंग' नामक कंपनी द्वारा रिलायंस समूह की कंपनियों में 6530 करोड़ रुपए के निवेश की जांच का अनुरोध किया। पत्र में बताया गया कि बायोमेट्रिक्स मार्केटिंग एक कमरे में स्थित कंपनी है जिसका सिंगापुर में कोई व्यवसाय या संपत्ति नहीं है। टूजी स्पेक्ट्रम का जो विशाल दूरसंचार घोटाला सामने आया, उसमें भी रिलायंस की बढ़-चढ़कर भागीदारी सामने आई। रिलायंस टेलीकॉम और अनिल धीरूभाई अंबानी ग्रुप द्वारा स्पेक्ट्रम हासिल करने के लिए बनाई गई स्वान टेलीकॉम कंपनी के तीन अफसर इस घोटाले में दोषी पाए गए। रिलायंस पर 5 करोड़ रुपए का जुर्माना भी लगाया गया है। इराक में 'ऑइल फॉर फूड' कार्यक्रम में हुए घोटाले में भी रिलायंस पेट्रोलियम लि. का नाम आया। संयुक्त राष्ट्र संघ के इस कार्यक्रम का मकसद था कि युद्ध के बाद प्रतिबंधों में ढील देते हुए इराक को तेल के बदले खाद्यान्न और दवाईयां प्राप्त करने की अनुमति दी जाए। लेकिन इस परोपकारी कार्यक्रम को भी अंबानियों ने नहीं छोड़ा।

### मुनाफा हमारा, घाटा सरकार का

कुछ साल पहले 'दिल्ली एयरपोर्ट मेट्रो' का ठेका हासिल करने के लिए अनिल अंबानी ने पूरा जोर लगा दिया था। लेकिन कुछ दिन चलाने के बाद घाटा होने लगा तो तकनीकी कारण बताते हुए उसे बीच में छोड़ दिया और अब दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन (सरकारी कंपनी) को उसे चलाना पड़ रहा है। यानी अंबानी का सिद्धांत है- मुनाफा हो तो हमारा, घाटा हो तो सरकार का। इसी तरह अनिल अंबानी ने दक्षिण और पूर्वी दिल्ली के बिजली वितरण का लाईसेंस लिया है लेकिन वह लगातार घाटा बताते हुए बिजली दरों को बढ़ाने के लिए दबाव बनाता रहा है और इस मामले में ऑडिट से बचता रहा है। विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) की नीति आई तो जमीन की बंदरबांट और करों में विशाल छूटों का फायदा उठाने के लिए देश के सारे पूंजीपति दौड़ पड़े। इनमें अंबानी घराना सबसे आगे था। इस देश के सबसे बड़े सेज बनाने के

दो प्रस्ताव रिलायंस के थे- एक मुंबई के पास रायगढ़ जिले में और एक दिल्ली के पास गुडगांव-झज्जर जिलों में। हालांकि किसानों के प्रबल विरोध के कारण ये दोनों योजनाएं रद्द करनी पड़ी हैं। गुजरात में जरूर नरेंद्र मोदी के सहयोग से इसने जामनगर में अपने विशाल तेलशोधन कारखाने के पास 4000 हेक्टेयर जमीन लेकर सेज बना लिया है। इससे इसके कारखाने को करों व शुल्कों में कई रियायतें भी मिल गई हैं।

इस देश के सबसे बड़े पूंजीपति घराने ने जाहिर तौर पर मीडिया को भी अपने कब्जे में लेने की कोशिश की है। सबसे पहले अस्सी के दशक के अंत में इसने साप्ताहिक पत्र 'कामर्स' को खरीदकर उसे दैनिक अखबार 'बिजनेस एंड पोलिटिकल ऑब्ज़र्वर' में बदल दिया। फिर 2008 में ईटीवी नेटवर्क को खरीद लिया। 2012 में नेटवर्क 18-टीवी 18 समूह में शेयर खरीदकर अपने नियंत्रण में ले लिया। इसके साथ ही सीएनएन-आईबीएन, सीएनबीसी-टीवी 18 और 'कलर्स' नामक चैनल अंबानी के नियंत्रण में आ गए।

### प्राकृतिक गैस का महाघोटाला

पेट्रोल और प्राकृतिक गैस अंबानी घराने की अंधाधुंध कमाई का सबसे नया और विवादास्पद क्षेत्र हैं। कैप्टन सतीश शर्मा वाला प्रसंग ऊपर दिया गया है। उसके बाद भी अंबानियों पर लगातार मेहरबानियां होती रही। 2005 में एनटीपीसी (राष्ट्रीय ताप बिजली निगम, जो कि सरकारी कंपनी है) ने मुंबई उच्च न्यायालय में केस दायर किया कि रिलायंस इंडस्ट्रीज लि. ने 17 साल तक उसे गुजरात के कवास और गांधार प्रोजेक्ट से 2.34 डालर प्रति इकाई की दर से 1.2 करोड़ घन मीटर गैस प्रतिदिन आपूर्ति करने का करार किया था और इस करार का वह पालन नहीं कर रही है। अभी यह केस चल ही रहा था कि मुरली देवड़ा पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस मंत्री बने और उन्होंने केजी बेसिन की गैस दर को और बढ़ाकर 4.2 डालर प्रति इकाई कर दी।

मुरली देवड़ा के बाद यह मंत्रालय जयपाल रेड्डी के पास रहा। रिलायंस के स्वार्थों का पूरी तरह समर्थन न करने पर उन्हें हटाकर वीरप्पा मोइली को लगाया गया जिन्होंने गैस की कीमत और दुगनी करके 8.4 डालर प्रति इकाई करने की इजाजत दे दी। (इसके पहले मणिशंकर अय्यर को भी इस मंत्रालय से इसीलिए हटाया गया था)। इसके लिए रंगराजन समिति की उस सिफारिश का सहारा लिया गया है जिसमें गैस दरों को अंतरराष्ट्रीय बाजार दरों से जोड़ने की सिफारिश की गई है। उर्वरक और बिजली मंत्रालयों ने



इस बढ़ोतरी का विरोध किया था क्योंकि रासायनिक खाद और बिजली बनाने में वहां प्राकृतिक गैस का इस्तेमाल होता है, और उनकी लागत एकदम काफी बढ़ जाएगी। घरेलू रसोई गैस की दरें भी काफी बढ़ जाएंगी और महंगाई का एक नया दौर शुरू हो जाएगा। जाहिर है कि देश की कीमत पर एक कंपनी और एक परिवार को बेइन्तहा फायदा पहुंचाने वाला यह एक बड़ा घोटाला है।

इसके खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में याचिकाओं और दिल्ली सरकार द्वारा कराई गई एफआईआर में तथा अन्यत्र निम्न तथ्य सामने आए हैं-

(1) स्वयं रिलायंस द्वारा हाईड्रोकार्बन महानिदेशक को लिखे 22 मई 2009 के पत्र में दी गई जानकारी के मुताबिक गैस उत्पादन की लागत 1 डॉलर प्रति इकाई से भी कम है।

(2) रिलायंस की पार्टनर नीको रिसोर्सेज कंपनी ने बांग्लादेश सरकार से 2.34 डॉलर की दर से गैस-आपूर्ति का 25 साल का करार किया है।

(3) घरेलू उत्पाद और देश के अंदर इस्तेमाल करने के बावजूद गैस कीमत डॉलर में तय करने का कोई औचित्य नहीं है। रुपए की विनियम दर गिरने से गैस और महंगी पड़ रही है।

(4) गैस कीमतें बढ़ने से 2014-15 से 2018-19 तक के पांच सालों में जहां भारत सरकार पर खाद, बिजली, घरेलू गैस के अनुदानों का 71,250 करोड़ रुपए का अतिरिक्त बोझ पड़ेगा, वहीं रिलायंस के मुनाफों में 64,000 करोड़ रुपए की बढ़ोतरी हो जाएगी।

(5) 2011 की कैग रपट में रिलायंस पर अपनी पूंजी लागत को बढ़ा-चढ़ाकर बताने का आरोप लगाया गया है। इससे उसे मुनाफों को सरकार के साथ बांटना नहीं पड़ता है। रिलायंस द्वारा पूंजी खर्च 2004 में 240 करोड़ डॉलर प्रस्तावित

था, जो 2006 में बढ़कर 880 करोड़ डॉलर हो गया।

(6) रिलायंस ने जानबूझकर गैस उत्पादन कम किया है, ताकि कीमतें बढ़ाने के लिए दबाव बने और बाद में बढ़ी कीमतों पर गैस बेचकर वह ज्यादा मुनाफा कमा सके। कुल मिलाकर, 2011-12 तक लक्ष्य से 76 फीसदी कम गैस उत्पादन हुआ है। गौरतलब है कि निजीकरण के पीछे प्रमुख तर्क यही था कि उत्पादन बढ़ेगा।

(7) रिलायंस के साथ समझौता यह था कि गैस की खोज के बाद धीरे-धीरे वह जिन क्षेत्रों को लाभकारी और व्यवसायिक दृष्टि से उत्पादन के लायक नहीं मानती है, उन्हें वापस सरकार को सौंप देगी ताकि सरकार उनमें अन्य कंपनियों को आमंत्रित कर सके। लेकिन तीसरा चरण बीत जाने के बाद भी रिलायंस जिस 390 वर्ग किमी में उत्पादन कर रही है उसके बजाय पूरे 7645 वर्ग किमी की मालिक बनी हुई है। इस तरह उसने कृत्रिम रूप से अपना एकाधिकार बना रखा है।

2 जुलाई 2012 को तत्कालीन केंद्रीय पेट्रोलियम मंत्री एस जयपाल रेड्डी ने रिलायंस को कारण बताओ नोटिस दिया। इस नोटिस में कड़े शब्दों में कहा गया था,

“आप अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने और उत्पादन करार की शर्तों को पूरा करने में असफल रहे हैं तथा आप इस करार का जानबूझकर उल्लंघन कर रहे हैं और इस तरीके से सरकार को भारी नुकसान और बदनामी पहुंचा रहे हैं। करारनामे के मुताबिक लक्ष्यों को हासिल करने में आप बार-बार असफल रहे हैं।”

लेकिन यह नोटिस देने के तीन महीने के अंदर पेट्रोलियम मंत्रालय से जयपाल रेड्डी विदा हो गए और वीरप्पा मोइली आ गए। अंबानी की ताकत और भारतीय याराना पूंजीवाद के चरित्र को इस प्रसंग से एक बार फिर पहचाना और समझा जा सकता है।

### तालिका 1: रिलायंस इंडस्ट्रीज लि. की चमत्कारिक प्रगति (करोड़ रुपए में)

मद	1976-77	2002-03	2012-13
कुल बिक्री	67	50,096	3,71,119
मुनाफा	4	7,565	30,505
शुद्ध मुनाफा	3	4,104	21,003
कुल संपत्ति	33	63,737	3,18,511

**नोट:** रिलायंस समूह या अंबानी घराने की केवल एक (अलबत्ता प्रमुख) कंपनी के ये आंकड़े हैं। पूरे समूह की आमदनी व संपत्ति इससे काफी ज्यादा होगी।

## अदानी के लिए सब एक हैं

भारतीय अरबपति गौतम अदानी के बेटे की शादी पिछले साल गोवा में हुई तो मेहमानों में देश के कई अरबपति, कंपनियों व बैंकों के बड़े अधिकारी और बड़े सरकारी अफसर शामिल थे। ज्यादातर ऐसे मेहमान रिसेप्शन में शामिल होकर चले गए। लेकिन एक खास दोस्त को जल्दी नहीं थी। वह पूरे दो दिन शादी के सारे कार्यक्रमों में शामिल रहा। वह था अदानी के गृह राज्य गुजरात का मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी।



भारत का 22वें नंबर का और दुनिया का 609 वे नंबर का अमीर आदमी गौतम अदानी करीब 280 करोड़ डॉलर (168 अरब रूपए) की संपत्ति का मालिक है। वह इस देश का सबसे बड़ा बंदरगाह चलाता है, सबसे बड़ा निजी बिजली उत्पादक है, देश-विदेश में कई खदानों का मालिक है, देश के सबसे बड़े सेज का मालिक है, सीमेंट, कृषि रसायन, रीयल एस्टेट (जमीन-जायदाद) आदि के धंधे भी करता है। शायद वह भारत का सबसे बड़ा प्रदूषक भी है।

गौतम अदानी ने शुरुआत एक हीरा व्यापारी के रूप में की थी। 1988 में उसने अपनी कंपनी बनाई और 1994 में उसे शेयर बाजार में सूचीबद्ध किया। उसकी सबसे तेज प्रगति मोदी के शासन काल में हुई। मार्च 2002 में अदानी समूह की कमाई 76.5 करोड़ डॉलर थी जो मार्च 2013 में बढ़कर 880 करोड़ डॉलर हो गई।

लेकिन मामला केवल मोदी का नहीं है। अदानी का उत्कर्ष और वैश्वीकरण का दौर साथ-साथ चलते हैं। भारत सरकार ने उदारीकरण-निजीकरण के तहत नीतियों-नियमों-कानूनों में जो बदलाव किए, उनसे अंबानी और अदानी पैदा हुए हैं। आधारभूत ढांचे (सड़क, बिजली, बंदरगाह, हवाई अड्डे) के निजीकरण, खदानों के निजीकरण, विदेश व्यापार को खुला करना, सेज, तटीय क्षेत्रों के पर्यावरण कानूनों में शिथिलता आदि ने अदानी को तेजी से फलने-फूलने का मौका दिया है।

गुजरात के कच्छ इलाके में मुंद्रा में देश का सबसे बड़ा निजी बंदरगाह अदानी का है। इसी के साथ किसानों और चरागाहों की 7350 हेक्टेयर भूमि अर्जित करके अदानी ने देश का सबसे बड़ा सेज बनाया है। यहीं पर उसका 4620 मेगावाट का कोयले

से चलने वाला विशाल बिजली कारखाना भी है। यह जमीन गुजरात सरकार ने अदानी को एक रूपए प्रति वर्गमीटर की नाममात्र दरों पर 30 साल की लीज पर दी है। उस लीज को बाद में आगे बढ़ाया जा सकता है। इसी जमीन में से

फिर अदानी ने सेज के अंतर्गत 660 रूपए प्रति वर्गमीटर तक की दरों पर अन्य कंपनियों को (जिनमें सरकारी इंडियन आयल कंपनी भी शामिल है) दी है। बैटे-बिठाए जमीन के धंधे में कितनी जबरदस्त कमाई व लूट के मौके नई व्यवस्था ने दिए हैं, अदानी इसकी एक अच्छी मिसाल है।

मुंद्रा में जो जमीन ली गई है, उसमें खेत, बगीचे और चरागाह थे और कई नियमों-प्रक्रियाओं का इसमें उल्लंघन हुआ है। अदानी के साथ वहां टाटा का भी एक विशाल बिजली कारखाना लगा है। इन दोनों कारखानों से निकलने वाली राख और खारे पानी के प्रदूषण से बगल की बची हुई जमीन पर भी खेती मुश्किल हो गई है। इसके अलावा सागर में मछुआरों को मिलने वाली मछली भी काफी कम हो गई है। बहुत शिकायतें करने पर 2012 में केंद्रीय पर्यावरण मंत्रालय ने पर्यावरणविद सुनीता नारायण की अध्यक्षता में एक समिति बनाई। इसने अपनी रपट में बताया कि अदानी सेज ने मेनग्रोव (समुद्र किनारे के झाड़ियों भरे स्थल) नष्ट किए हैं तथा राख व खारे पानी से जमीन और पानी को प्रदूषित किया है। बिजली कारखानों के लिए खुली और कच्ची नहरों से समुद्र से खारा पानी खींचा जाता है, तालाब में रखा जाता है और वापस समुद्र में छोड़ा जाता है। इस प्रक्रिया में खारे पानी के रिसाव से भूजल प्रदूषित हो रहा है। अदानी ने खाड़ी की धाराओं को भी बाधित किया है।

पर्यावरण के इन गंभीर नुकसानों को बताते हुए समिति ने पानी की नहरों और तालाब को पक्का करने और पर्यावरण की क्षतिपूर्ति के लिए 200 करोड़ का एक कोष बनाने की सिफारिश की। लेकिन एक साल बीत जाने पर भी कुछ नहीं हुआ। उल्टे अदानी अपने सेज का क्षेत्र 7350 हेक्टेयर से बढ़ाकर 18000 हेक्टेयर करने की योजना बना रहा है। मुंद्रा में पुराने जहाज तोड़ने का एक यार्ड बनाने की भी योजना अदानी की है, जो भारी मात्रा में प्रदूषण फैलाएगा।

भारत के पर्यावरण और वन मंत्रालय के समुद्र तट

की पट्टी में नाजुक पर्यावरणीय संतुलन और जैव विविधता की रक्षा के लिए 2002 में तटीय नियामक जोन (सीआरजेड) नियम बनाए, जिनमें कारखानों और बड़े निर्माण कार्यों को प्रतिबंधित किया था। लेकिन बाद में इन नियमों में ढील देकर अदानी जैसे को छूट दे दी गई।

मुंद्रा सेज से प्रभावित किसानों की याचिका पर जनवरी 2014 में गुजरात उच्च न्यायालय ने इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया और वहां की सभी कंपनियों को काम बंद करने का आदेश दिया। न्यायालय ने कहा कि इसके लिए पर्यावरणीय स्वीकृति नहीं ली गई है। (बंदरगाह और बिजली कारखाने के लिए तो ली है, लेकिन सेज के लिए नहीं)। सर्वोच्च न्यायालय ने भी उच्च न्यायालय के फैसले पर स्थगन देने से इंकार कर दिया है, हालांकि उसने कहा है कि मौजूदा कंपनियां अपना काम जारी रख सकती हैं। यह कहा जा रहा है कि यहां अरबों रुपयों की बड़ी पूंजी लग चुकी है, तो क्या इसे अब बाद में पर्यावरणीय स्वीकृति नहीं दी जा सकती? एक बार फिर नियम-कानून, पर्यावरण हित और जनहित एक तरफ तथा कंपनियां व पूंजी निवेश दूसरी तरफ है और देखना है कि जीत किसकी होती है। बहुत कुछ चुनाव के बाद आने वाली नई सरकार के रवैये पर निर्भर करेगा। शायद इसीलिए अदानी सहित बड़े-बड़े पूंजीपति घराने नरेंद्र मोदी पर पूरा दांव और ताकत लगा रहे हैं।

अदानी मध्यप्रदेश में छिंदवाड़ा में 1329 मेगावाट का ताप बिजली कारखाना लगा रहे हैं। न केवल किसानों की विशाल जमीन इसमें ली जा रही है, पेंच नदी का पानी भी किसानों से छीनकर अदानी को दिया जा रहा है। स्थानीय विरोध को दबाने के लिए पुलिस और गुंडों दोनों का सहारा लिया जा रहा है। 24 मई 2011 को किसान संघर्ष समिति

के नेताओं और कार्यकर्ताओं पर गुंडों द्वारा हमला किया गया। पुलिस द्वारा भी समय-समय पर गिरफ्तारी और मुकदमे लगाए जाते रहे। 2012 में कार्यकर्ताओं पर गिरफ्तारी की खबर पाकर मेधा पाटकर वहां पहुंची तो उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। इससे मालूम होता है कि सरकारें अदानी जैसों के हितों की रक्षा के लिए कितनी मुस्तैद रहती हैं।

अदानी के पास छत्तीसगढ़ व ओडिशा में दो कोयला खदानें हैं। यह देश की सबसे बड़ी कोयला आयातक हैं। पंजाब बिजली बोर्ड के बिजली कारखानों के लिए कोयला आयात की निविदाओं में अदानी के लिए पक्षपात और सरकार को 100 करोड़ रुपए का नुकसान का आरोप भी लगा है।

छत्तीसगढ़ में कोयला खदान के लिए हसदेव अरंड का जंगल अदानी को देने में रुकावटों को कैसे दूर किया गया, इसका प्रसंग भी गौरतलब है। वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने इसके बारे में विशेषज्ञों की वन सलाहकार समिति बनाई थी। उस समिति ने 22 जून 2011 को अपनी रपट दी। अगले ही दिन 23 जून को समिति की आपत्तियों को दरकिनार करते हुए मंत्री ने कोयला खदान की मंजूरी दे दी। यानी 24 घंटे भी नहीं लगे।

बाद में राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण (नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल) ने इसकी कड़ी आलोचना की। दिलचस्प बात यह है कि ये मंत्री महोदय जयराम रमेश थे जो वैसे पर्यावरण हितैषी और जन हितैषी माने जाते हैं। अपने बचाव में उन्होंने यह भी कहा कि छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डा.रमन सिंह ने इस मंजूरी के लिए उनसे तीन बार मुलाकात की थी। यानी अरबपतियों को आगे जाकर मदद करने वाले मोदी अकेले नहीं हैं। और उसमें राजनीति या अलग-अलग पार्टी में होना आड़े नहीं आता है। सब एक हो जाते हैं।

3

## सहाराश्री से नटवर श्री

3 मार्च 2014 को सर्वोच्च न्यायालय के आदेश से सुब्रत राय को तिहाड़ जेल भेजा गया, तो एक ऐसे किस्से का पटाक्षेप हुआ जिसमें एक साधारण स्कूटर से नमकीन बेचने वाले की हैसियत से ऊपर उठकर इस देश के सबसे अमीर आदमियों में एक बनने और एक विशाल कारोबारी साम्राज्य के मालिक बनने की चमत्कारिक कहानी



है। भारतीय पूंजीवाद का यह हीरो भी आखिरकार खलनायक ही साबित हुआ।

मूलतः बिहार के अररिया का रहने वाले सुब्रत राय के पिता गोरखपुर में चीनी मिल में टेक्नीशियन का काम करते थे। पिता

की बेवक्त मौत ने परिवार में संकट पैदा कर दिया। इंजीनियर का डिप्लोमा लिए सुब्रत राय ने नमकीन बनाकर लेम्ब्रेटा

स्कूटर पर आपूर्ति करना शुरू किया और इसे 'जया प्रॉडक्ट्स' का नाम दिया। लेकिन यह धंधा चला नहीं और सुब्रत राय 1978 में 'सहारा फाईनेंस' नामक एक संकटग्रस्त फर्म से जुड़ गए। इसमें छोटी-छोटी बचतें इकट्ठा करना शुरू किया। यह धंधा चल निकला। बाद में वित्तीय क्षेत्र के उदारीकरण और विनियमन ने इसे तेजी से बढ़ने का मौका दिया और वह भारत की सबसे बड़ी गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनी बन गई। सहारा की सफलता का राज इसमें भी छिपा है कि इसके एजेंट प्रतिदिन छोटे लोगों (रिक्शाचालक, चाय बेचने वाला, टायर मरम्मत करने वाला) के पास जाकर 20 रुपए जितनी कम राशि भी इकट्ठी करते हैं और बैंक से ज्यादा ब्याज का भरोसा देते हैं। उदारीकरण के पिछले दौर में ऐसी कई कंपनियों की बाढ़ आ गई है। इनमें से कई डूब गईं। कई के मालिकों ने पैसे की हेराफेरी की। सबसे ताजी मिसाल बंगाल के शारदा समूह की है। ऐसी घटनाओं ने भारतीय रिजर्व और शेयर बाजार की नियामक संस्था सेबी (भारतीय प्रतिभूति विनियम बोर्ड) को ज्यादा निगरानी और नियमन के लिए मजबूर किया। जो सहारा अभी तक भरोसामंद मालूम होती थी, वह भी आखिरकार अनियमितताओं के चलते घेरे में आ गई।

दरअसल लोगों को आकर्षित करने के लिए और ज्यादा ब्याज या प्रतिफल देने के लिए ये कंपनियां जमाराशियों को ऐसे कामों में निवेश करने की कोशिश करती हैं जहां से उनको ज्यादा कमाई हो। इस चक्कर में वे ज्यादा जोखिम वाले, संदेहास्पद और दो नंबरी गतिविधियों में भी शामिल हो जाती हैं। इसलिए जहां इन कंपनियों ने बैंकों की पहुंच से बाहर गरीब लोगों को बचतों के लिए प्रेरित करने का महत्वपूर्ण काम किया है (सुब्रत राय का दावा है कि 'वित्तीय समावेश' का काम करके उन्होंने जनता की सेवा की है), लेकिन लालच, अर्धव्यवस्था के विनियमन तथा करोड़ों-अरबों की जमा राशियों के उपयोग से रातों-रात वारे-न्यारे करने के प्रलोभन ने अंततः इनका भट्टा बिठा दिया, लोगों की खून-पसीने की कमाई डूब गई और इनके मालिक व मैनेजर जेल पहुंच गए।

छोटी बचतों को इकट्ठा करने से शुरू हुआ सहारा

का कारोबार बेतहाशा फैलता गया और सहारा समूह की आज करीब 120 कंपनियां हैं। वित्तीय कारोबार के अलावा उसका टीवी चैनल है, अखबार हैं, अस्पताल है, डेयरी फार्म हैं, खुदरा दुकानें हैं। सहारा एयरलाईन भी थी, जिसे 2006 में जेट एयरवेज को 2500 करोड़ रुपए में बेच दिया गया। होटल व्यवसाय भी है और सहारा समूह न्यूयार्क के प्लाजा और लंदन के ग्रेसवेनर हाउस जैसे दो काफी महंगे होटलों का मालिक है। पिछले दिनों में सहारा का सबसे बड़ा धंधा जमीन-जायदाद-मकानों का बन गया है। उसके पास देश के 99 शहरों में जमीन है, जहां 88 टाउनशिप और 15 आवासीय कांप्लेक्स बनाने की उसकी योजना है। महाराष्ट्र में 10,600 एकड़ में आंबीवेली लकजरी टाउनशिप उसकी एक बड़ी योजना है।

भारत के खेल जगत में सहारा की महत्वपूर्ण उपस्थिति है। वह लगातार (पिछले दिसंबर 2013 तक) भारतीय क्रिकेट

*सवाल यह है कि सहाराश्री कैसे 'नटवरलालश्री' बन गए और देश की सबसे बड़ी अदालत द्वारा देश की सबसे बड़ी जेल में कैसे पहुंचा दिए गए ? देश के सबसे महंगे और नामी वकीलों में से एक काम जेटमलानी भी उनको नहीं बचा पाए। मामला इसलिए भी उलझा हुआ मालूम होता है कि सुब्रत राय का कहना है कि एक भी निवेशकर्ता ने उनकी कंपनियों के खिलाफ शिकायत नहीं की है और उन्हें जबरदस्ती प्रताड़ित किया जा रहा है।*

टीम को स्पॉन्सर करता रहा है। भारतीय क्रिकेट खिलाड़ियों के कपड़ों पर सहारा विज्ञापन सदा मौजूद रहा है। एक आईपीएल टीम का भी वह मालिक है। अभी वह भारतीय हाकी टीम का स्पॉन्सर है। विजय माल्या की फार्मूला वन रेसिंग टीम में 42.5 फीसदी हिस्सेदारी उसकी है।

अंदाज है कि सहारा

का पूरा कारोबार करीब 68,200 करोड़ रुपए का है। लखनऊ में 270 एकड़ में विशाल 'सहारा शहर' है जिसमें सुब्रत राय का परिवार रहता है। इसके अंदर कृत्रिम झील है, गोल्फ कोर्स है, हेलीपेड और निजी ऑडिटोरियम है। देश के बड़े-बड़े नेता, फिल्मी सितारे, खिलाड़ी और पूंजीपति यहां आते रहते हैं, जिनका एक मेला फरवरी 2004 में सुब्रत राय के दो बेटों की शादी में लगा था। अमर सिंह, मुलायम सिंह, अमिताभ बच्चन, अनिल अंबानी उनके खास दोस्तों में रहे हैं। नीरा राडिया को लंदन से भारत बुलाने का श्रेय सुब्रत राय को ही जाता है। वह 1995 में सहारा समूह की जनसंपर्क अधिकारी बन कर आई और बाद में सहारा एयरलाईन की बड़ी अधिकारी बनी।

सहारा समूह की 120 कंपनियों में केवल 2 ही शेयर

बाजार में सूचीबद्ध हैं। बाकी की मिल्कियत राय परिवार या आपस में एक-दूसरी कंपनियों के पास है। सुब्रत राय का कहना है कि उनकी व्यक्तिगत संपत्ति 6 करोड़ रुपए से भी कम है। लेकिन सहारा समूह की संपत्ति का हिसाब लगाएं तो वे भारत के पांचवें नंबर के सबसे अमीर आदमी होंगे।

सुब्रत राय ने देशभक्ति, अनुशासन और सेवा का भी चोला ओढ़ा है। लखनऊ में सहारा शहर के द्वार पर सुनहरे शेरों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर सवार भारतमाता की भव्य मूर्ति है। कुछ साल पहले एक लाख से ज्यादा सहारा कर्मचारियों ने इकट्ठे होकर एक साथ राष्ट्रीय गीत गाने का गिनीज रिकार्ड बनाया। सहारा के कर्मचारी एक खास पोशाक पहनते हैं और दाहिना हाथ सीने पर रखकर 'सहारा प्रणाम' करते हुए स्वागत करते हैं। खुद सुब्रत राय अपने को 'सहाराश्री' कहलाना पसंद करते हैं। 2012 में इंडिया टुडे ने उन्हें भारत के सबसे ताकतवर दस लोगों में शामिल किया। इसके पहले 2004 में टाईम पत्रिका ने सहारा को भारत में रेलवे के बाद सबसे बड़ा रोजगारदाता बताया।

सवाल यह है कि सहाराश्री कैसे 'नटवरलालश्री' बन गए और देश की सबसे बड़ी अदालत द्वारा देश की सबसे बड़ी जेल में कैसे पहुंचा दिए गए? देश के सबसे महंगे और नामी वकीलों में से एक राम जेटमलानी भी उनको नहीं बचा पाए। मामला इसलिए भी उलझा हुआ मालूम होता है कि सुब्रत राय का कहना है कि एक भी निवेशकर्ता ने उनकी कंपनियों के खिलाफ शिकायत नहीं की है और उन्हें जबरदस्ती प्रताड़ित किया जा रहा है।

पहले भी सहारा के खिलाफ छिटपुट मामले आए हैं। 1996 में लखनऊ के सहायक आयकर आयुक्त प्रसेनजित सिंह ने सहारा की स्कीमों में जमाराशियों के ब्यौरे मांगे और जांच की कोशिश की। लेकिन तुरंत उनका तबादला हो गया। 2008 में भारतीय रिजर्व बैंक ने सहारा इंडिया फाईनेंशियल कार्पोरेशन को नई जमाराशि लेने से मना किया और 20,000 करोड़ रुपए की जमाराशि सात साल के अंदर जमाकर्ताओं को वापस करने को कहा। सहारा ने जल्दी ही यह जमा राशि वापस करने की जानकारी दी। लेकिन वास्तव में उसने इस राशि को वापस न करके दो कंपनियों-सहारा इंडिया रीयल एस्टेट कार्पोरेशन और सहारा हाउसिंग इन्वेस्टमेंट कार्पोरेशन- के ऋणपत्रों में बदल दिया। इसमें काफी लेन-देन चेक से न होकर नकद रूप में हुआ।

सेबी को पता चला तो उसने इसका पूरा ब्यौरा मांगा। फिर उसने कहा कि सहारा कंपनियों को ऋणपत्र जारी करने

का अधिकार व इजाजत नहीं है। उसने ऋणपत्रों को वापस लेने और निवेशकों के पैसे वापस लौटाने को कहा। सहारा इसके खिलाफ उच्च न्यायालय में गई, लेकिन राहत नहीं मिली। उसने अखबारों में पूरे-पूरे पृष्ठों के विज्ञापन दिए। सर्वोच्च न्यायालय ने अगस्त 2012 के आदेश में निवेशकों को 24,000 करोड़ रुपए लौटाने को कहा, नहीं तो इस मूल्य की सहारा की संपत्ति जब्त कर ली जाएगी। सहारा की टालमटोल ओर बहानेबाजी चलती रही।

दिसंबर 2012 में सहारा ने सेबी के पास 5120 करोड़ रुपए जमा किए और कहा कि शेष राशि निवेशकों को लौटा दी गई है। इसके ब्यौरे मांगने पर सहारा में 8 ट्रक भरकर कागज सेबी के मुंबई दफ्तर में पहुंचाए। इनमें से 20,000 पतों पर पुष्टि के लिए पत्र भेजे गए तो 8,000 चिट्ठियां यह कहकर वापस लौट आई कि ऐसा कोई पता ही नहीं है। दस्तावेजों में कई संदेहास्पद चीजें सामने आईं। मिसाल के तौर पर 1433 जगह अनिरुद्ध सिंह नाम के आदमी (वही पिता, वही पता) को पैसे वापस किए गए। एक दिन में 34 बार पैसे वापस करना दिखाया गया। यानी जबरदस्त फर्जीवाड़ा और संदेहास्पद लेन-देन सामने आते गए। सहारा ने दावा किया कि इन दो कंपनियों में देश के 2.96 करोड़ (करीब 3 करोड़) निवेशकों ने 24,029 करोड़ रुपए का निवेश किया है। यह दावा विश्वसनीय नहीं है। भारत में कुल परिवारों की तादाद 25 करोड़ होगी। इनमें से 12 फीसदी परिवारों ने सहारा में पैसा लगाया होगा, यह कहीं से भी विश्वसनीय नहीं लगता।

यह स्पष्ट होता है कि दोनों सहारा कंपनियों के ऋणपत्रों में बदली गई राशि का बड़ा हिस्सा दो नंबर का है और काफी व्यक्तियों के नाम व पते फर्जी हैं। संभवतः यह पैसा नेताओं और दूसरे दो नंबरी अमीरों का है जो सहारा उनसे लेकर जमीन-जायदाद के धंधे में लगाने व सफेद करने का काम कर रही है। इसी कारण से निवेशकों की कोई शिकायत सामने नहीं आई। देश में चल रहे दो नंबरी पैसे के जबरदस्त जाल का एक बड़ा छोर सहारा के साथ जुड़ा दिखाई दे रहा है। चेतवनी के बाद चेतवनी देने और कई नियत तारीखें चूकने के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने खुद सुब्रत राय को बुलाया। वे नहीं आए तो वारंट भेजकर पकड़कर बुलाया और जेल भेज दिया। सुब्रत राय की कहानी एक बार फिर जाहिर करती है कि एक नंबर में मेहनत करके कोई भी एक सीमा से ज्यादा अमीर नहीं हो सकता। बेतहाशा अमीरी का रास्ता दो नंबरी कामों, तिकड़मों, फर्जीवाड़ों और घोटालों से होकर ही जाता है।

# पूंजीवाद के बहुराष्ट्रीय यार

जितेंद्र भाटिया

जंगलों की तुलना धरती और जीवन के फेफड़ों से की जा सकती है। जहां जंगल सांस नहीं लेते, वहां जीवन की संभावना भी देर सवेर समाप्त हो जाती है। पूरी दुनिया में जिस तेजी से जंगल हमारे तथाकथित विकास की बलिवेदी पर कुर्बान किए जा रहे हैं, उसका लेखा-जोखा हमारे समय की सबसे भयानक वास्तविक 'हॉरर स्टोरी' से कम नहीं है। जिस प्रलय और विनाश की परिकल्पना हमारे कई ग्रंथों में मिलती है, पर्यावरण के खिलाफ हमारे ये विनाशकारी आत्महंता कदम शायद आने वाले दशकों में इस पौराणिक प्रलय को वास्तविकता में बदल सकते हैं।

यू तो लाभ की अंधी आकांक्षा में डूबकर कॉरपोरेट का एक बहुत बड़ा हिस्सा पर्यावरण के तकाजों को नजरअंदाज करता रहा है, लेकिन जंगलों के साम्राज्य को मटियामेट करने में जिन बहुराष्ट्रीय पूंजीवादी ताकतों ने सबसे मारक भूमिका निभाई है, उनमें जमीन से तेल और खनिज दोहने वाली कंपनियों में डच 'शेल' और अंतरराष्ट्रीय खनिज कंपनी 'रियो टिंटो' के नाम सबसे ऊपर आते हैं। 'शेल' की भारत में अच्छी खासी उपस्थिति है और 'रियो टिंटो' इधर बहुत जोर शोर के साथ भारत में खनिजों को बटोरने के लिए उतर रही हैं। इन दोनों ही कंपनियों पर तीसरी दुनिया के देशों में प्राकृतिक संपदा को बेहिसाब लूटने, पर्यावरण को तबाह करने और अपने रास्ते के रोड़े बनने वाले जन-जातियों के प्रतिनिधियों को मौत के घाट उतरवा देने के संगीन आरोप हैं। अपने उद्देश्य के लिए सरकारों को खरीदना और उनके कंधे पर बंदूक रखकर अपने प्रतिद्वंद्वियों को रास्ते से हटाना इनकी स्थापित नीति है।

तेल कंपनी 'शेल' दुनिया के 200 से अधिक देशों में तेल बेचते हैं और उसकी सालाना 500 अरब डॉलर की आय दुनिया के 100 गरीब मुल्कों की कुल सालाना जीडीपी अथवा आय से कहीं अधिक बैठती है। जाहिर है कि इतनी बड़ी पूंजी के चलते इसके लिए सरकारों को अपनी जेब में रखकर चलना बहुत आसान हो जाता है। दृष्टव्य है कि तीसरी दुनिया के जिन-जिन देशों में तेल के भंडार मिले, वहां-वहां इस पर एकाधिकार करने के लिए कंपनियों ने

राजनीतियों, तानाशाहों और उद्योगपतियों से सौदेबाजी कर इन गरीब देशों की अर्थव्यवस्था को जोंक की तरह चूसकर धरती जंगल और पर्यावरण पर अकल्पनीय कहर ढाए हैं। अफ्रीकी देशों में इनके सबसे अच्छे उदाहरण हैं, अंगोला और नाइजीरिया।

नाइजीरिया की लगभग आधी जनसंख्या पूरी तरह कृषि पर आधारित है, लेकिन देश की सकल आय का 90 प्रतिशत तेल के निर्यात से आता है और कृषि से होने वाली आय पांच प्रतिशत से भी कम है। जाहिर है कि तेल के निर्यात से होने वाली आय सीधे तेल कंपनियों की तिजोरियों में जाती है और जन सामान्य का इससे कोई वास्ता नहीं होता। निस्संदेह ऐसी विसंगति तेल कंपनियों और सरकारों की आपसी सांठगांठ के बगैर पैदा नहीं हो सकती।

नाइजीरिया की अल्पसंख्यक जनजाति ओगोनी के मूल निवास-स्थल ओगोनी प्रदेश में 1950 से ही तेल कंपनियां तेज की खुदाई के लिए वहां के पर्यावरण को दीर्घकालीन विनाश की ओर धकेलती रही हैं। इनमें शेल सबसे आगे है। ओगोनी जाति में पैदा हुए नाइजीरिया के प्रख्यात लेखक केन सारो विवा ने सबसे पहले इस प्रदेश में पेट्रोलियम दूषित कचरे के फेंके जाने के विरुद्ध आवाज उठाई थी। बाद में उन्होंने ओगोनी जाति संरक्षण अभियान 'मूवमेंट फॉर दि सरवाइवल ऑफ दि ओगोनी पीपल' (एमओएसओपी) का गठन किया। केन सारो विवा के नेतृत्व में इस संस्था ने ओगोनीलैंड में शेल और दूसरी तेल कंपनियों द्वारा धरती, वनस्पति और जल प्रदूषण के विरोध में एक जबरदस्त शांतिपूर्ण जन-आंदोलन खड़ा कर दिया, जिससे उस प्रदेश में तेल कंपनियों के लिए काम करना तक दूभर हो गया। देश की तानाशाही सरकार पूरी तरह इन कंपनियों के साथ थी। एमओएसपी के कार्यकर्ताओं को अनेकानेक बार किसी न किसी बहाने से गिरफ्तार कर जेलों में टूसा जाता रहा, लेकिन इससे भी आंदोलन की तेजी में कोई बाधा नहीं आई। 1993 में केन सारो विवा को गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन भारी प्रतिरोध के बीच उन्हें एक महीने बाद ही एक गहरी चाल के तहत छोड़ दिया गया, हालांकि

उनके लिए ओगोनीलैंड में प्रवेश की मनाही अब भी बरकरार थी। 1994 में ओगोनी जाति के चार अपेक्षाकृत परंपरावादी ओगोनी नेताओं की नृशंस हत्या कर दी गई और इन हत्याओं को उकसाने की जिम्मेदारी केन सारो विवा के मध्ये मढ़ दी गई। हत्या के बाद उन्हें और उनके आठ प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। तानशाही सरकार की सेना ट्रिब्यूनल ने आनन-फानन में बहुत गड़बड़ी के साथ सभी 'अभियुक्तों' को मौत की सजा सुना डाली। सारी दुनिया में इस फैसले के विरुद्ध जबरदस्त आवाज उठी। बचाव पक्ष के सारे वकीलों ने इस अंधे कानून के खिलाफ अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। लेकिन सारे जनमत और प्रतिरोध को दरकिनार करते हुए तानशाही सरकार के 10 नवंबर 1995 को केन सारो विवा और उनके आठों साथियों को फांसी पर लटका दिया।

बताया जाता है कि फांसी पर लटकाए जाने वाले 'अभियुक्तों' में केन सारो विवा आखिरी थे और उन्हें अपने साथियों को एक-एक कर फांसी दिए जाने का नजारा देखने के लिए विवश किया गया था। कहा यह भी जाता है कि कोई भी जल्लाद उन्हें फांसी देने के लिए तैयार नहीं हुआ था तो सुदूर उत्तर के पोर्ट हारकोर्ट से जल्लाद मंगवाना पड़ा था। बताया यह भी जाता है कि उन्हें खत्म करने के लिए लगातार पांच बार फांसी देनी पड़ी थी। अपनी पुस्तक 'एक महाद्वीप के खुले जख्म' के अध्याय 'नाइजीरिया का संकट-एक व्यक्तिगत बयान' में प्रख्यात अफ्रीकी लेखक वोल सोयेंका लिखते हैं कि 'चौथी फांसी से पहले केन सारो विवा ने चिल्लाकर कहा था- "तुम लोग मेरे साथ ऐसा क्यों कर रहे हो? कैसे देश के कैसे वासी हो तुम?"'

फांसी के बाद मुकदमे के लिए हाजिर किए जाने वाले तमाम सरकारी गवाहों ने सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया कि उन्हें झूठी गवाही देने के लिए शेल के अधिकारियों की ओर से तगड़ी घूस मिली थी। जैसा कि रिवाज है, मृत्यु के बाद सारो विवा को 'राइट लाइवली अवार्ड' और अमरीका के 'गोल्डमैन पर्यावरण पुरस्कार' से नवाजा गया और सारी दुनिया में उनका नाम अमर शहीदों की सूची में शामिल हो गया। अमरीका ने बहुत सारा गुस्सा दिखाया, कॉमनवेल्थ राज्यों की समिति ने नाइजीरिया को कॉमनवेल्थ से हटा डाला और दुनियाभर के लेखकों ने अपने-अपने ढंग से केन सारो विवा को श्रद्धांजलि दी। उधर नाइजीरिया में शेल कंपनी ने ओगोनी जातियों के गिने चुने प्रतिनिधियों के बीच बेहिसाब पैसा बांटा ताकि मामला रफा-दफा हो जाए।

मानवाधिकारों की अवहेलना के लिए शेल कंपनी के खिलाफ एक मुकदमा अमरीका में भी दर्ज किया गया। लेकिन 2009 में मुकदमे की सुनवाई से पहले शेल ने डेढ़ करोड़ डॉलर देकर कोर्ट से बाहर समझौता करवा लिया। अपनी मृत्यु से पहले केन सारो विवा ने जेल से एक पत्र लिखा था जो बाद में 1995 में ब्रिटिश समचार पत्र 'गार्जियन' में प्रकाशित हुआ इसमें उन्होंने लिखा था-

'हमारी इस दुर्दशा के लिए अंततः ब्रिटिश सरकार जिम्मेदार है क्योंकि वही नाइजीरिया के सैनिक तानाशाहों को पैसे उधार देकर हथियार बेचती है- अच्छी तरह जानते और समझते हुए भी कि ये हथियार अंततः देश के निरीह और निहत्थे लोगों के विरुद्ध इस्तेमाल किए जाएंगे!'

मुकदमे के दौरान ट्रिब्यूनल के सामने अपने आखिरी वक्तव्य में केन सारो विवा ने कहा था-

"मैं आज समय के सामने साक्षी बनकर खड़ा हूँ। यह मुकदमा सिर्फ मेरे और मेरे साथियों पर ही नहीं चलाया जा रहा। यहां 'शेल' भी मुकदमे पर है और अच्छा है कि उनके प्रवक्ता यहां मौजूद हैं, हालांकि 'शेल' स्वयं इस मुकदमे से भाग खड़ा हुआ है। लेकिन एक समय आएगा, जब इस मुकदमे के सबक उसके लिए उपयोगी होंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि देर सबेर इस प्रदेश के पर्यावरण पर ढाए गए जुल्मों के लिए इस कंपनी से सवाल मांगे जाएंगे और दोषियों को सजा दी जाएगी। ओगोनी जाति पर इस कंपनी द्वारा चलाई जा रही घिनौनी लड़ाई की सजा भी इसे एक दिन भुगतनी होगी। .... अपने विरुद्ध गढ़े गए झूठे आरोपों के मुकाबिल खड़ा मैं, ओगोनी जनमानस, नाइजर डेल्टा और नाइजीरिया की तमाम जनजातियों को आह्वान करता हूँ कि वे निर्भीक खड़े होकर अपने जायज अधिकारों की शांतिपूर्वक लड़ाई लड़ें। आज इतिहास और ईश्वर इन लोगों के साथ हैं। लेकिन कुरान में लिखा है कि- दमन के विरुद्ध लड़ाई लड़ना कोई अपराध नहीं है और अल्लाह इन दमनकारियों को एक दिन सजा जरूर देगा।"

लेकिन हकीकत में केन सारो विवा के हत्यारों को इंसफ मिलने का समय अभी तक नहीं आया है। अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग और केन सारो विवा के परिवार द्वारा शेल के विरुद्ध लगाए गए विविध मुकदमों आज भी हॉलैंड की हेग आदलतों में घिसट रहे हैं, तेल और खनिज कंपनियां जंगल पर जंगल उजाड़कर उसी तरह पैसा उगल रही हैं और नाइजीरिया में शेल द्वारा तेल के दोहन और पर्यावरण के मटियामेट की प्रक्रिया उसी

तरह अनवरत जारी है।

1873 में स्थापित दुनिया की सबसे बड़ी खदान कंपनियों रियो टिंटो की कहानी शेल से बहुत अलग नहीं है। पूरी दुनिया के 140 देशों में जमीन से खनिजों और बहुमूल्य धातुओं को खोदने वाली इस कंपनी की 1911 की कुल बिक्री तीन हजार करोड़ डॉलर और इससे होने वाला शुद्ध लाभ 1550 करोड़ डॉलर था। अधिकृत रूप से इस कंपनी में 67000 कर्मचारी हैं, लेकिन अविकसित देशों में जंगलों को काटने और जमीन से खनिजों को निकालने का काम यह कंपनी हजारों मजदूरों को सस्ते दामों पर बंधुआ बनाकर खरीदती है। कहा जाता है कि इस दुनिया में पर्यावरण को जितना नुकसान इस कंपनी ने पहुंचाया है उसकी शायद ही कोई दूसरी मिसाल इस दुनिया में मिलेगी। इंडस्ट्रियल ग्लोबल यूनियन की जून 2012 की एक रिपोर्ट के अनुसार 140 देशों में 5 करोड़ से अधिक खान मजदूर इसकी गतिविधियों से प्रभावित हुए हैं और पपुआ गिनी जैसे देश में तो हजारों मजदूरों की हत्या के लिए भी इसे जिम्मेदार माना जाता है। अविकसित प्रदेशों के जंगलों में बहुमूल्य खनिजों और धातुओं की संभावना ताड़ चुकने के बाद यह विस्तृत भूखंडों पर खुदाई का ठेका लेती है और सस्ते दामों पर स्थानीय मजदूरों एवं भारी-भरकम मशीनों को जुटाकर अपने काम को अंजाम देती हैं। लोहे से लेकर एल्युमीनियम, तांबे और कोयले, सोने-चांदी से लेकर यूरेनियम और बहुमूल्य हीरों-जवाहरातों तक पूंजी उगाहने वाला कोई भी खनिज इसकी नजर से नहीं छूटा है। खदानों की जमीन बनाने के लिए पहले जंगल काटे जाते हैं, फिर खदानों से निकलने वाला टनों-टन मलबा इधर-उधर छितरा दिया जाता है, जल धाराओं को जहरीले रसायनों से दूषित किया जाता है और अधिकांश उत्पाद को जहाजों में भरकर विदेश भेज दिया जाता है। यानी इस कंपनी के एजेंडा में जंगलों की सफाई करने, हवा, जमीन और हजारों की संख्या में मजदूरों को बंधुआ बनाकर जानवर की तरह, उनसे काम लेने तक का हर विवादास्पद कुकर्म शामिल है। जाहिर है कि जंगल, धरती और जल के विरुद्ध इतनी बड़ी कार्रवाई स्थानीय सरकारों की मिलीभगत के बगैर पूरी नहीं हो सकती, लिहाजा अधिकारियों, राजनीतिज्ञों और ओहदे वालों को खरीदकर अपनी जेब में रखना इस कंपनी को बखूबी आता है। दृष्टव्य यह भी है कि खदानों से पूरे खनिज निकाल चुकने या उसकी आर्थिक संभावनाओं में कमी होने के बाद यह कंपनी पुरानी खदानों को खाली कर अपने पीछे प्रदूषण और मजदूरों

के शोषण की घिनौनी परछाईयां छोड़ नए प्रदेशों में विनाश की नई संभावनाओं की ओर निकल जाती है। कंपनी द्वारा रौंदे गए ये विशाल भूखंड अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, पपुआ न्यूगिनी, अफ्रीका और एशिया के विभिन्न देशों में फैले हैं।

इंडस्ट्रियल ग्लोबल यूनियन के अनुसार दुनिया भर में खनिज निकालने वाली कंपनियां हर साल अरबों डॉलर कमाती हैं, लेकिन इस आमदनी का नगण्य हिस्सा भी इन खदानों में काम करने वाले मजदूरों तक नहीं पहुंचता और विकासशील देशों में स्थित कारखानों और खनिज ठिकानों में तो स्थिति और भी बदतर है। बेशक ये सभी कंपनियां दावा करती हैं कि खनिज उगाहने की प्रक्रिया में ये अपनी सामाजिक जिम्मेदारी और पर्यावरण की सुरक्षा का विशेष ख्याल रखती हैं, लेकिन वस्तुस्थिति इससे ठीक उलट है।

रियो टिंटो के रक्त रंजित इतिहास का सबसे शर्मनाक, रक्तरंजित इतिहास पपुआ न्यूगिनी के बोगेनविले क्षेत्र से संबंध रखता है। यहां की धरती में तांबे और सोने की संभावनाएं देखकर 1969 में रियो टिंटो ने अपनी ऑस्ट्रेलियन कंपनी बोगेनविले कॉपर लिमिटेड की मार्फत यहां तांबे, सोने और चांदी की खदानों की स्थापना की और धरती से अपार मात्रा में ये खनिज निकाले जाने लगे। तब यह इलाका ऑस्ट्रेलिया की श्वेत सरकार के अधीन था। 1975 में पपुआ न्यू गिनी की स्वतंत्रता के बाद से बोगेलविले भी पपुआ गिनी का हिस्सा बन गया हालांकि इसे कुछ हद तक स्वायत्ता प्राप्त थी। बोगेनविले की सबसे महत्वपूर्ण खदान पेंगुना में थी जिसके लाभ का सिर्फ आधे से एक प्रतिशत आता था। जाहिर है कि शेष सारा लाभ कंपनी के खाते में जाता था। बोगेनविले के मूलवासियों को लगता था कि इस खदान से उन्हें कोई फायदा नहीं हो रहा है। एक तो वहां श्वेतों और अश्वेतों को मिलने वाले पैसों में काफी अंतर था और दूसरे, पूरे देश का पर्यावरण इन खदानों के कारण नष्ट हो रहा था। कंपनी की गतिविधियों से पूरी जबा नदी प्रदूषित हो गई थी, बच्चों में जन्मजात बीमारियां मिलने लगी थीं और प्रदेश में पाई जाने वाली दुर्लभ उड़न लोमड़ी की तो नस्ल ही विलुप्त हो गई थी। अंततः आदिवासियों ने इस विनाश को रोकने के लिए कंपनी से सहयोग करना बंद कर दिया। सरकार के सिपाहियों की मदद से बागी मजदूरों की घेराबंदी की गई और अंततः रियो टिंटो को यह खदान बंद कर देनी पड़ी, लेकिन इस संघर्ष में हजारों मजदूरों की जान गई। बोगेनविले के संघर्ष पर फिल्म निर्देशक डॉम रोथेरो ने एक डॉक्यूमेंटरी 'दि कोकोनेट रेवोल्यूशन' बनाई है जिसमें



दर्शाया गया है कि बोगेनविले के आदिवासियों ने किस तरह रियो टिंटो और न्यूगिनी की सेना को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। दुनिया की विभिन्न अदालतों में आज भी रियो टिंटो के विरुद्ध हत्या, मानव अधिकारों के उल्लंघन और आगजनी के विभिन्न मुकदमे पिछले कई वर्षों से घिसट रहे हैं। लेकिन इसमें भारी संदेह है कि इतने वर्षों के बाद भी आर्थिक दम-खम वाली इस उद्दंड कंपनी को इन संगीन अपराधों के लिए दंडित करना संभव हो पाएगा।

पपुआ इंडोनेशिया में ग्रासबर्ग की तांबे और सोने की खदान में रियो टिंटो की 40 प्रतिशत की हिस्सेदारी है। इस खदान से प्रतिदिन 230,000 टन की प्रदूषित धोअन

नदी में बहाई जाती है। इतने विशालकाय प्रदूषणकारी कदम की जानकारी मिलने के बाद नॉर्वे की सरकार ने इस कंपनी को सारी वित्तीय सहायता हमेशा के लिए बंद कर दी। 2010 में कैलिफोर्निया की एक खदान में रियो टिंटो पर 600 मजदूरों की घेराबंदी का आरोप लगा। भारत में मध्यप्रदेश के छतरपुर क्षेत्र में रियो टिंटो द्वारा हीरों की अवैध खुदाई और जंगलों के काटे जाने का गंभीर मामला सामने आया है। आने वाले दिनों में यह कंपनी सरकार से मिलकर ओडिशा में जंगलों को काटकर वहां खनिज लौह की खदानें बैठाने की प्रोजेक्ट पर भी काम कर रही है।

(पहल-95, फरवरी 2014 से साभार)

## पूँजीवाद और याराना पूँजीवाद

कैपिटलिज्म और “क्रोनी” कैपिटलिज्म में भेद करना पूँजीवाद को महिमामंडित करने का ही प्रयास है। वर्तमान पूँजीवाद व्यवस्था की संजीवनी कोयला एवं तेल और इसका लुभावना चेहरा खाद्य उद्योग जिसकी पहुंच किसानों के खेतों से लेकर घर-घर की थाली तक है, उसका क्या चरित्र है यह पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे उन्नत देश अमरीका में भी देखा जा सकता है। इनका असली और वीभत्स चेहरा अमरीका के ही एक प्रख्यात साहित्यकार अप्टन सिंकलेयर के उपन्यासों में “किंग कोल”, “ऑयल” और “जंगल” में साफ देखा जा सकता है। इन सबका विकास लूट खसोट और जीवन में गंदगी और बीमारी फैला कर ही होता है। जो लोग पूँजीवाद के कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में भेद करना चाहते हैं वे आम लोगों को भुलावे में रखना चाहते हैं।

अमरीका के पूँजीपति पारिवारिक संबंधों को भी मुनाफे और व्यवसायिक हित के लिए बलिदान करने के लिए तैयार रहते हैं। इसका उदाहरण अमरीका के ही एक विख्यात नाटककार आर्थर मिलर के नाटक “ऑल माई सन्स” में स्पष्ट रूप से सामने आता है। यह नाटक एक ऐसे आदमी के परिवार के इर्द-गिर्द घूमता है जो युद्धक वायुयान

के लिए कोई महत्वपूर्ण पुर्जा बनाता है। उसके पुर्जे की बनावट में दोष के कारण विमान दुर्घटनाग्रस्त होता है और उसमें उद्यमी का अपना ही लड़का मर जाता है। लेकिन अपने पुर्जे की खराबी को छिपाने के लिए जिससे उसका मुनाफा जुड़ा हुआ है उद्यमी का पूरा परिवार मृत पुत्र की पत्नी समेत- यह दिखलाने की कोशिश करता है कि उसका पुत्र दुर्घटना में नहीं मरा और जिंदा है। यह है पूँजीवाद में मक्का अमरीका के व्यावसायिक नैतिकता का हाल। संसार के दूसरे देशों में भी पूँजीवाद का हाल कुछ दूसरा नहीं है। बोफोर्स के मामले में भारत के एक पूर्व प्रधानमंत्री पर दोष लगाया गया। संयोग से यह कंपनी स्वीडन की थी, जिसे पूँजीवादी देशों में सबसे अधिक नैतिकता का पालन करने वाला माना जाता है। प्रधानमंत्री ने जो भी किया हो लेकिन रिश्वत देने वाली कंपनी की तो पहली जवाबदेही बनती है। अभी हाल में एक इसी तरह के सौदे को दलाली और घूस की आशंका से रद्द किया गया है। इसमें संलग्न पार्टी भी एक विकसित यूरोपीय देश की थी। अचरज है कि देश और विदेश के तमाम अनुभवों के बावजूद लोग शुद्ध और भाई-भतीजावाद वाले पूँजीवाद में फर्क करने की नसीहत दे रहे हैं।

-सच्चिदानंद सिन्हा

# रॉयल्टी की बढ़ती लूट

डा. राहुल वर्मन

रॉयल्टी भारत में विदेशी कंपनियों की कमाई की सबसे बड़ी मद बन गई है। कंपनी फायदे में रहे या घाटे में, रॉयल्टी का विशाल भुगतान बढ़ता जा रहा है। मजदूरी नहीं, रॉयल्टी बढ़ाते जाने का नियम बन गया है। भारतवासियों की मेहनत से उपजी कमाई की यह लूट ईस्ट इंडिया कंपनी की लूट जैसी ही है।

इस लेख का अंगरेजी से अनुवाद राजेंद्र चौधरी ने किया है। राहुल वर्मन इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेकनालाजी, कानपुर के प्रोफेसर हैं। आर्थिक मामलों पर तीखी नजर रखते हैं।

raahulv  
@iitk.co.in

भारत से बाहर जाने वाला धन इन दिनों चर्चा का विषय है। ज्यादातर चर्चा गैरकानूनी और दो नंबरी धन की होती है जो स्विस बैंकों जैसी जगहों में जमा होता है। लेकिन कानूनी तौर पर भी बड़ी मात्रा में इस गरीब देश से पैसा बाहर जा रहा है। इसका एक जरिया है विदेशी कंपनियों को रॉयल्टी का भुगतान। रॉयल्टी का मतलब है तकनीकी सहयोग, पेटेंट, ट्रेडमार्क और कॉपीराइट के चलते किया जाने वाला भुगतान।

सरकारी आंकड़ों के अनुसार, रॉयल्टी भुगतान 2009-10 में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) के 13 फीसदी से बढ़ कर 2012-13 में 18 फीसदी हो गया है। 2009-10 और 2012-13 के बीच, रॉयल्टी और तकनीकी सेवाओं, दोनों के लिए भुगतान विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का 16 से लेकर 33 प्रतिशत रहा है। बाहरी भुगतान में इतनी बढ़ोतरी चिंता का विषय है।

रॉयल्टी भुगतान भारत में सक्रिय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए आय का सबसे बड़ा स्रोत बन गए हैं। बिजनेस स्टैंडर्ड की एक रिपोर्ट के अनुसार 2012-13 में 71 बहुराष्ट्रीय कंपनियों (जिन के आंकड़े उपलब्ध थे) ने रॉयल्टी और तकनीकी फीस के रूप में अपनी भारतीय सहायक कंपनियों से 4838 करोड़ रुपये की कमाई की थी। इसकी तुलना में लाभांश से इन की कुल आय 4529 करोड़ रुपये थी। 2010 तक स्थिति ठीक इस के उल्टी थी। तब लाभांश रॉयल्टी से अधिक होता था। पिछले पांच वर्षों में, इन कंपनियों द्वारा रॉयल्टी भुगतान 31 फीसदी की वार्षिक चक्रवृद्धि दर से बढ़ा है जब कि इस दौरान शुद्ध बिक्री केवल 15 फीसदी सालाना

और शुद्ध लाभ 10 फीसदी सालाना की दर से बढ़े। पिछले छह वर्षों में, रॉयल्टी भुगतान 2007-08 में कुल बिक्री के 1.3 फीसदी से लगभग दोगुना हो कर 2012-13 में 2.5 प्रतिशत हो गया। इसके विपरीत परिचालन मार्जिन में गिरावट आई और यह पिछले वर्ष यह 14.2 फीसदी था जब कि 2007-08 में यह 16.4 फीसदी था। इस दौरान रॉयल्टी भुगतान लागत का सबसे तेजी से बढ़ता मद बन गया।

रॉयल्टी भुगतान में बढ़ोतरी की इस लूट में भारत और दुनिया की लगभग सभी नामी - गिरामी बहुराष्ट्रीय कंपनियां शामिल हैं। सबसे ज्यादा रॉयल्टी भुगतान मारुति सुजुकी ने किया और दूसरे नंबर पर हिंदुस्तान यूनिलीवर लिमिटेड है। मारुति द्वारा जापानी कंपनी सुजुकी को किया गया रॉयल्टी भुगतान वर्ष 2007-08 के 495 करोड़ रुपये से बढ़ कर 2012-13 में 2454 करोड़ रुपये तक पहुंच गया। यह कुल बिक्री राशि का 5.5 फीसदी बनता है जो देश में सबसे अधिक है। दूसरे स्थान पर हिंदुस्तान यूनिलीवर की कोलगेट पामोलिव है। 2012-13 में, एबीबी और मारुति सुजुकी जैसी कंपनियों ने रॉयल्टी और अन्य ऐसे भुगतान के रूप में अपने कर भुगतान के बाद बचे लाभ (शुद्ध लाभ) के क्रमशः 300 फीसदी और 100 फीसदी से भी अधिक का भुगतान किया। इसी तरह 3 एम इंडिया, टिमकेन इंडिया, व्हर्लपूल इंडिया और असाही इंडिया ग्लास आदि कंपनियों ने अपने विदेशी भागीदारों को शुद्ध बिक्री के 1.2 से लेकर 2.6 फीसदी तक का भुगतान रॉयल्टी के रूप में किया। इसके विपरीत, इन्होंने (एक अपवाद को छोड़ कर) 2008 के बाद शेयरधारकों को लाभांश का भुगतान ही नहीं

किया। और तो और असाही इंडिया ग्लास ने 2011-12 में 58.7 करोड़ रुपए के घाटे के बावजूद रॉयल्टी के रूप में 20.5 करोड़ रुपए का भुगतान किया।

हिंदुस्तान लीवर, उपभोक्ता वस्तुओं की भारत की सबसे बड़ी कंपनी है। उसने पिछले साल ही अपनी मूल कंपनी यूनिलीवर से समझौता किया है कि रॉयल्टी भुगतान चरणबद्ध तरीके से वर्तमान में बिक्री के 1.4 फीसदी से बढ़ा कर 2018 तक बिक्री का 3.15 फीसदी कर देंगे। इसी तरह मैकडॉनल्ड्स कार्पोरेशन को रॉयल्टी शुल्क का भुगतान वर्तमान में शुद्ध बिक्री के 3 से बढ़ कर 2020 तक शुद्ध बिक्री का 8 फीसदी हो जाएगा। यह किसी भारतीय कंपनी द्वारा विदेशों में स्थित अपनी मूल कंपनी को रॉयल्टी भुगतान की सबसे अधिक दरों में होगा। 2014 से अगले पांच साल की अवधि में नेस्ले की रॉयल्टी भुगतान दर बिक्री के 3.5 से बढ़ कर 4.5 फीसदी हो जाएगी।

### नियमों में बदलाव से जुड़ी है

रॉयल्टी भुगतान में हुई ये बढ़ोतरी न तो संयोगवश हुई है और ना बाजारी परिवर्तनों का प्रभाव है। पहले तो विश्व व्यापार संगठन के नए नियमों के तहत लागू नई पेटेंट व्यवस्था से भारत के बाहर जाने वाला रॉयल्टी भुगतान बढ़ा है, क्योंकि ज्यादातर पेटेंट बहुराष्ट्रीय कंपनियों के ही पास हैं। फिर दिसंबर 2009 में भारत सरकार ने विदेशी प्रौद्योगिकी सहयोग और रॉयल्टी फीस के लिए भुगतान के नियमों पर से नियंत्रण हटा लिया है। इस बदलाव से पहले विभिन्न मदों के तहत रॉयल्टी भुगतान करने से पहले सरकार की मंजूरी की आवश्यकता थी परंतु अब ऐसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं है। (तालिका 1 देखें) मई 2010 में सरकार और भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) ने विदेशी मुद्रा प्रबंधन नियम, 2000 में संशोधन कर के घरेलू बिक्री के 5 फीसदी और निर्यात के 8 फीसदी से अधिक के रॉयल्टी भुगतान के लिए भी वाणिज्य मंत्रालय की अनुमति की जरूरत हटा दी। इसके साथ ही रॉयल्टी भुगतान आदि पर कोई सीमा या सरकारी नियंत्रण नहीं रहा।

**तालिका 1- रॉयल्टी भुगतान नियम- बदलाव से पहले और उसके बाद**

**भुगतान का प्रकार दिसंबर 2009 के दिसंबर बदलाव से पहले के नियम दिसंबर 2009 के दिसंबर बदलाव के बाद के नियम**

**तकनीकी सहयोग के लिए एकमुश्त भुगतान**

**20 लाख अमरीकी डालर से कम कोई सीमा नहीं**

**तकनीकी सहयोग के लिये रॉयल्टी भुगतान की दर स्थानीय बिक्री पर 5 फीसदी और निर्यात पर 8 फीसदी कोई बंधन नहीं, अगर फेमा ( चालू खाता लेनदेन) नियम 2000 के तहत भुगतान है**

**ट्रेडमार्क और ब्रांड नाम के प्रयोग के लिए रॉयल्टी भुगतान की दर स्थानीय बिक्री पर 1 फीसदी और निर्यात पर 2 फीसदी कोई बंधन नहीं, अगर फेमा ( चालू खाता लेनदेन) नियम 2000 के तहत**

जब इस बदलाव के चलते हमारी अर्थव्यवस्था और हमारे विदेशी मुद्रा भंडार की स्थिति डांवाडोल होने लगी, तो सरकार ने बाहर जाने वाले इस प्रवाह को नियंत्रण करने के कुछ कमजोर प्रयास किए। उदाहरण के लिए, पिछले बजट में सरकार ने विदेशी संस्थाओं को रॉयल्टी और तकनीकी सेवाओं के लिए किए गए भुगतान पर कर की दर 10 से बढ़ा कर 25 फीसदी कर दी। कर में इस वृद्धि के खिलाफ कंपनी लॉबी द्वारा काफी हंगामा किया गया। परंतु वास्तव में इस वृद्धि का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ने वाला है और कर की प्रभावी दर 10 से 15 फीसदी ही रहेगी। अधिकतर देशों के साथ भारत ने दोहरा कर न लगाने की संधि की हुई है और ऐसे अधिकांश देशों में कर की दर 10 से 15 फीसदी ही है। उदाहरण के लिए, मॉरीशस, जहां से हमारे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का लगभग आधा आता है, वहां द्विपक्षीय कर संधि के अनुसार, कर की दर केवल 10 फीसदी है और कंपनियां द्विपक्षीय कर संधि के मुताबिक उतना ही कर चुकती हैं।

तेजी से बढ़ती रॉयल्टी भुगतान के संदर्भ में तीन सवाल उठते हैं।

1 . यह भुगतान किस तरह की सेवाओं के लिए किया जा रहा है?

2 . यह बाजारी-कंपनी प्रबंधन शासन व्यवस्था की गुणवत्ता के बारे में क्या दर्शाता है?

3 . इस का छोटे शेयरधारकों के आर्थिक हितों पर क्या असर होता है?

### हल्का प्रदर्शन, मोटी रॉयल्टी

मानक सिद्धांतों के अनुसार रॉयल्टी भुगतान मूल कंपनियों द्वारा उपलब्ध कराई गई सेवाओं पर आधारित होना चाहिए और संबंधित कंपनी के प्रदर्शन में इन सेवाओं का असर दिखाई देना चाहिए। परंतु आंकड़े दिखाते हैं कि विदेशी

कंपनियों की सहायक भारतीय कंपनियों की उपलब्धियां स्थानीय कंपनियों से भी कम रही हैं।

उदाहरण के लिए सबसे अधिक रॉयल्टी दाता मारुति को ही लें। बढ़ती रॉयल्टी के बावजूद कारों के बाजार में इस की हिस्सेदारी कम हुई है और प्रति शेयर आय 2010 के 85 रुपए के मुकाबले 2013 में 77 रुपए ही रह गई। इन्हीं सालों में इस का रॉयल्टी भुगतान 50 फीसदी से ज्यादा बढ़ा है। रॉयल्टी में बढ़ोतरी का तर्कसंगत नहीं है, खास तौर से जब मारुति के प्रबंध निदेशक जगदीश खट्टर ने स्वयं 2005 में यह व्याख्यान दिया था “स्विफ्ट (कार का नया मॉडल) भारतीय बौद्धिक और इंजीनियरिंग क्षमता की बढ़ती मान्यता का एक उदाहरण है; मारुति के 25 भारतीय इंजीनियरों ने सुजुकी मोटर कॉर्पोरेशन के अपने जापानी समकक्षों के साथ दो साल तक इस विश्वस्तरीय कार को डिजाइन करने और भारतीय परिस्थितियों के लिए तैयार करने के लिए काम किया है” सवाल

उठता है कि अगर मारुति के इंजीनियरों ने कंपनी के हालिया मॉडलों में योगदान दिया है, तो मूल कंपनी को इतना ऊंचा रॉयल्टी भुगतान क्यों दिया जा रहा है? और अगर स्वदेशी विशेषज्ञता उपलब्ध है, तो मारुति कंपनी अनुसंधान और विकास ( आर एंड डी) में और अधिक निवेश क्यों नहीं करती? 2009 में अनुसंधान और विकास पर इसका खर्च बिक्री का महज 0.4 फीसदी था जबकि टाटा मोटर्स में यह बिक्री का 1.2 फीसदी था।

उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादक हिंदुस्तान यूनिलीवर लिमिटेड के सन्दर्भ में तो ऊंचा रॉयल्टी भुगतान बिल्कुल बेतुका है। आखिर, साबुन उत्पादन करने के लिए कौन सी उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी चाहिए? (विशेष तौर से जब ऐसे उत्पादों का बड़ा हिस्सा तो केवल अपना ठप्पा लगाकर अन्य स्थानीय कंपनियों द्वारा बनाया जाता है, और हिंदुस्तान यूनिलीवर तो उस की बिक्री करती है)? ध्यान देने वाली बात यह है कि हिंदुस्तान यूनिलीवर का अनुसंधान एवं विकास पर खर्च मूल विदेशी कंपनी को किए गए रॉयल्टी भुगतान के मात्र पांचवें

हिस्से के बराबर ही है।

## बाजार कंपनी सुप्रबंध की पोल

यह सब बाजारी-कंपनी प्रबंध शासन व्यवस्था की गुणवत्ता के बारे में क्या दर्शाता है? कंपनियों और उनके प्रबंधन, उनके ‘सुशासन’ की बहुत प्रशंसा की जाती है। इस आधार पर जीवन के लगभग हर पक्ष में, आर्थिक हो या सामाजिक, पानी, शिक्षा और स्वास्थ्य, में निजीकरण की वकालत की जाती है। लेकिन रॉयल्टी भुगतान की यह कहानी तथाकथित अच्छी, सुशासित बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके सहायक कंपनियों के आंतरिक प्रशासन प्रबंधों के बारे में कुछ और ही दर्शाती है। अक्सर कंपनियां रॉयल्टी में वृद्धि के लिए कोई कारण नहीं बताती। आय-व्यय पत्रक में रॉयल्टी भुगतान दर्शाने के भी कोई निश्चित पैमाने नहीं हैं। कभी इन्हें सेवाओं की लागत में जोड़ देते हैं तो कभी खनिजों की रॉयल्टी में। आमतौर पर, हितों के टकराव को नजरअंदाज

*अगर सभी 2000 श्रमिकों की मजदूरी 10,000 रुपए प्रति माह के ‘शाही’ हिसाब से बढ़ भी जाए, तो कंपनी पर कुल कितना बोझ पड़ेगा? मात्र 24 करोड़ रुपए सालाना! यह कंपनी की कुल आय का मात्र 0.5 फीसदी है और इस के मजदूरी और वेतन बिल का मात्र 2.5 फीसदी। इसके मुकाबले पिछले साल की रॉयल्टी थी करीब 2,500 करोड़ रुपए।*

करके रॉयल्टी बढ़ोतरी संबंधी निर्णय बोर्ड द्वारा मूल कंपनी प्रतिनिधियों की सक्रिय भागीदारी के साथ ही लिए जाते हैं। शायद ही किसी मामले में छोटे निवेशकों की राय जानी जाती है या लाभांश में कटौती के बारे में बात भी की जाती है।

इस तरह के हितों के टकराव के मामलों के लिए ही पिछले साल संसद में पारित नए कंपनी कानून में ‘संबंधित पक्षों के बीच लेन-देन’ के नियमन का प्रावधान डाला गया। इस के तहत ‘संबंधित पक्षों के बीच लेन-देन’ के मामलों में, जैसे कि रॉयल्टी भुगतान, केवल ऐसे शेयरधारकों द्वारा विशेष प्रस्ताव पास होना आवश्यक है जो ‘संबंधित पक्षों’ में शामिल न हों। शायद इसीलिए हिंदुस्तान यूनिलीवर लिमिटेड और मैकडॉनल्ड्स जैसी कंपनियों ने आगामी कई वर्षों के लिए रॉयल्टी बढ़ोतरी के प्रस्ताव इस कानून के लागू होने से पहले ही पास करा लिए हैं। यह सीधे-सीधे कानून से बचने का तरीका है। जबकि ये कंपनियां अपने आप को कानून का पालन करने वाली कहते हुए अघाती नहीं हैं।

इस सबका छोटे शेयरधारकों के आर्थिक हितों पर क्या असर होता है?

## स्थानीय शेयरधारकों का अहित

आमतौर पर यह माना जाता है कि कंपनियां शेयरधारकों के लिए ही होती हैं और उनका एकमात्र काम होता है शेयरधारकों के लिए ज्यादा से ज्यादा मुनाफा हासिल करना। लेकिन रॉयल्टी की उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि सभी शेयरधारक एक समान नहीं होते; कुछ विशेष होते हैं। स्पष्ट रूप से रॉयल्टी भुगतान बढ़ने से लाभ और शेयरधारकों को मिलने वाला लाभांश घट जाता है। मूल कंपनियों का लाभांश घटने से कोई नुकसान नहीं होता क्योंकि वो तो रॉयल्टी के माध्यम से बहुत कुछ पहले ही ले जा चुकी होती हैं। असल में, कुछ मामलों में तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को रॉयल्टी प्राप्त भुगतान करने के लिए यहां की कंपनी मुनाफे में होना भी जरूरी नहीं है जैसा कि, 'ऐसे असाही' जो जापानी ग्लास निर्माता, मित्सुबिशी समूह का हिस्सा है, के मामले में हमने ऊपर देखा है।

## ताकतवर द्वारा लूट

परंतु, रॉयल्टी भुगतान का मुद्दा केवल मूल कंपनी और शेयरधारकों के बीच का मसला नहीं है। यह व्यापक जनहित का मसला है। रॉयल्टी भुगतान बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों की लूट है और इससे देश के विदेशी मुद्रा भंडार और राजस्व आय में कमी होती है। इसी आधार पर भारत सरकार इस भुगतान को नियंत्रित किया करती थी परंतु आज तो इस मुद्दे को जनहित का मसला माना ही नहीं जाता।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिये रॉयल्टी भुगतान अपनी लूट को अपनी स्थानीय सहयोगी कंपनी के वास्तविक वित्तीय प्रदर्शन से बचा कर अलग रखने का एक माध्यम है। चाहे बिक्री या लाभ बढ़े या ना बढ़े, ये कंपनियां अपने लिए आय का एक सुरक्षित स्रोत चाहती हैं। बाजार के गुणगान के बावजूद, सभी कंपनियां अपने आप को बाजार की अनिश्चितताओं और घटती बिक्री से सुरक्षित रखना चाहती हैं। 2008 की वैश्विक मंदी के बाद यह प्रवृत्ति और बढ़ गई है। स्पष्ट है कि विदेशी पूंजी और भारतीय अर्थव्यवस्था के बीच का संबंध वास्तव में

एक व्यापारिक संबंध न हो कर ताकतवर द्वारा लूट का उदाहरण मात्र है।

## मजदूरी नहीं, रॉयल्टी बढ़ती जाएगी

इस पृष्ठभूमि में हमें इन कंपनियों का अपने एक दूसरे महत्वपूर्ण हिस्से, श्रमिकों के साथ व्यवहार को भी देखना चाहिए। इस बारे में सबसे बड़ी रॉयल्टी दाता, मारुति बहुत बढ़िया उदाहरण है। जिस अवधि में मारुति द्वारा किया गया रॉयल्टी भुगतान आसमान छू रहा था, उसी अवधि में उसके अपने मानेसर संयंत्र के मजदूर अपनी पसंद की यूनियन बनाने के अपने संवैधानिक अधिकारों के लिए लगातार संघर्षरत रहे हैं। लगभग 2000 मजदूरों ने प्रबंधन और राज्य शासन के कठोर दमन के बावजूद आंदोलन को बहादुरी से जारी रखा। इसकी परिणति 2012 की दुखद हिंसा और एक मारुति प्रबंधक की मौत में हुई। इसके बाद कंपनी प्रबंधन और राज्य सरकार, श्रमिकों और उनके नेताओं के पीछे ही पड़ गया। दो साल से

*पिछले साल अंबुजा और एसीसी दोनों ने होलसिम को लगभग 300 करोड़ रुपए की रॉयल्टी का भुगतान किया। दूसरी ओर छत्तीसगढ़ में एसीसी होलसिम के जाजमूमूल संयंत्र के करीब एक हजार टेका मजदूर नियमित करने को लेकर 2011 से संघर्ष कर रहे हैं।*

147 श्रमिक, उनके खिलाफ कोई सबूत न होने के बावजूद, बहुत ही गंभीर किस्म के आरोपों में जेल में बंद हैं। अगर सभी 2000 श्रमिकों की मजदूरी 10,000 रुपए प्रति माह के 'शाही' हिसाब से बढ़ भी जाए, तो कंपनी पर कुल कितना बोझ

पड़ेगा? मात्र 24 करोड़ रुपए सालाना! यह कंपनी की कुल आय का मात्र 0.5 फीसदी है और इस के मजदूरी और वेतन बिल का मात्र 2.5 फीसदी। इसके मुकाबले पिछले साल की रॉयल्टी थी करीब 2,500 करोड़ रुपए।

मारुति का ही एक दूसरा उदाहरण लें। कुछ समय पहले मारुति सुजुकी ने घोषणा की है कि गुजरात में उसका नया प्रस्तावित कारखाना उस की मूल जापानी कंपनी, सुजुकी मोटर कारपोरेशन, की सहयोगी कंपनी के तौर पर लगेगा न कि, जैसे पहले से प्रस्तावित था, मारुति सुजुकी की इकाई के तौर पर। नई व्यवस्था के तहत, नए कारखाने द्वारा तैयार कारों को मारुति सुजुकी द्वारा बेचा जाएगा और इसे ये कारें नई कंपनी 'लागत मूल्य' पर बेचेगी। परंतु इसकी लागत की गणना कैसे की जाएगी, यह छुपा रहेगा। इसके चलते मुनाफे का बड़ा हिस्सा तुलनात्मक रूप से व्यापक स्वामित्व वाली कंपनी मारुति सुजुकी में आने की बजाय थोड़े लोगों

के स्वामित्व वाली सुजुकी मोटर में चला जाएगा। इस फैसले के पीछे एक और कारण मारुति इकाइयों में जारी वर्तमान संघर्ष से गुजरात सुजुकी के कामगारों को अलग रखने और उन पर पूरा नियंत्रण रखने की मंशा भी हो सकती है। मारुति सुजुकी के एक पूर्व अधिकारी के अनुसार “मानेसर में श्रम प्रबंधन की जापानी विधि थोपना बिलकुल असफल रहा है। इसलिए यह तर्कसंगत है कि सुजुकी चाहती हो कि गुजरात के कामगारों का मौजूदा यूनियनों से कोई संबंध न रहे और वह इनकी यूनियन से भारतीय कंपनी के माध्यम से निपटने की बजाय सीधे निपटे।”

अंतिम उदाहरण विश्व की प्रमुख सीमेंट कंपनी होलसिम और उसकी दो भारतीय सहायक कंपनियों, अंबुजा और एसीसी का लेते हैं। पिछले साल अंबुजा और एसीसी दोनों ने होलसिम को लगभग 300 करोड़ रुपए की रॉयल्टी का भुगतान किया। दूसरी ओर छत्तीसगढ़ में एसीसी होलसिम के जाजमूमूल संयंत्र के करीब एक हजार ठेका मजदूर नियमित करने को लेकर 2011 से संघर्ष कर रहे हैं। इनमें से कई तो दशकों से कंपनी में काम कर रहे हैं और उच्च न्यायालय में केस भी जीत चुके हैं। फिर भी उन्हें अपने कानूनी अधिकार नहीं मिले हैं। वे बिना किसी अधिकार और गरिमा के 150-200 रुपए की दिहाड़ी पर काम करते हैं जबकि कंपनी के मुख्य कार्यकारी अधिकारी का सालाना वेतन है 10.5 करोड़ रुपए। इसी तरह, होलसिम के अंबुजा से संबंधित एक और संयंत्र में, ठेका मजदूरों को संगठित

कर रहे युवा नेताओं को 3500 रुपये और मोबाइल ‘लूटने’ के अपराध में सलाखों के पीछे डाल दिया गया है। 2010 में मजदूरों को संगठित करने के प्रयास शुरू होने से पहले तो इन ठेका मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान भी नहीं किया जा रहा था। पूरी तरह से गैरकानूनी तरीके से कंपनी द्वारा देय भविष्य निधि अंशदान भी उनके मामूली वेतन से काटा जा रहा था। हेलमेट और जूतों के पैसे भी मजदूरों के वेतन से कटते हैं।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने 200 साल पहले, स्थायी कर निर्धारण के दिनों में, बंगाल सूबे के किसानों से निश्चित लगान लेने का फैसला किया था। इससे किसान तबाह हो गए थे क्योंकि सूखे और खराब मौसम के सालों में भी उन्हें निर्धारित दर पर ही लगान का भुगतान करना पड़ता था। किसानों के खून पसीने की कीमत पर कंपनी और बिचौलियों के घर भरे गए। लगता है तब से लेकर बीच की दो सदियों में कुछ नहीं बदला। आज भी उत्पादक बिना किसी अधिकार, गरिमा या आमदनी के परिश्रम करने को अभिशप्त हैं, विदेशी स्वामियों के खजाने लगातार और बढ़ती दर पर बढ़ना तय है। (पीएनएन)

(मूल लेख में आंकड़ों के स्रोतों की जानकारी भी दी गई है यह इस लिंक पर भी उपलब्ध है।

<http://rupeindia.wordpress.com/w@vy/@x/@~/royalty-payments-the-royal-treatment-of-foreign-companies-in-india/>

## सामयिक वार्ता दुकानों पर

### कोलकाता

राजकमल प्रकाशन पुस्तक केन्द्र  
(भारतीय भाषा परिषद भवन),  
36 ए, श्रेक्सपीयर सारणी  
कोलकाता- 700017

### वाराणसी

सर्वोदय साहित्य भंडार,  
प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन,  
वाराणसी

### मध्यप्रदेश

दुबे न्यूज एजेंसी,  
गोठी धर्मशाला,  
रेलवे स्टेशन के सामने,  
इंदौर (म.प्र.)

### उत्तराखंड

अल्मोड़ा किताब घर,  
मित्र भवन, गांधी मार्ग,  
अल्मोड़ा

### दिल्ली

गंगा टाबा बस स्टॉप स्टाल,  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,  
नई दिल्ली- 110067

# घोषणापत्रों की रोशनी में पार्टियां

सत्येन्द्र रंजन

भारतीय जनता पार्टी के चुनाव घोषणापत्र से उसके 'मुख्य मुद्दों'- अयोध्या में राम मंदिर निर्माण, संविधान के अनुच्छेद 370 के खात्मे और समान नागरिक संहिता के निर्माण- को हटा दिया जाए तो बाकी कार्यक्रमों एवं वादों में कांग्रेस से वह कितनी अलग है, इसे समझना कठिन हो सकता है। आर्थिक नीतियों के मामले में पार्टी के पास प्रस्तुत करने को शायद ही कुछ नया है। बल्कि इस पर ही जोर है कि भाजपा सरकार सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उन कार्यक्रमों को बेहतर ढंग से लागू करेगी, जिन्हें कांग्रेस नेतृत्व वाली सरकार अपनी विशेषता मानती रही है। यानी भाजपा ने कांग्रेस नेतृत्व वाले गठबंधन से अपना अंतर मुख्य रूप से इस आधार पर बताया है कि वह बेहतर निर्णय क्षमता प्रदर्शित करेगी और कार्यक्रमों को अधिक कुशलता से लागू करेगी।

दरअसल, पिछले तीन-चार महीनों में नरेंद्र मोदी अपने सार्वजनिक भाषणों में जो कहते सुने गए हैं, भारतीय जनता पार्टी का चुनाव घोषणापत्र उसका ही एक संकलन प्रतीत होता है। मोदी के मंच पर हिंदुत्व पृष्ठभूमि में रहा है, जबकि भाषणों में जोर विकास, आर्थिक उन्नयन, रोजगार और कुशल एवं निर्णायक प्रशासन देने पर रहा है। मीडिया साक्षात्कारों में उन्होंने 'लघुतम सरकार, अधिकतम शासन' की अपनी दृष्टि व्यक्त की है। ये नव-उदारवादी नजरिया भाजपा के घोषणापत्र में झलका। कुछ समय से मोदी 'नव-मध्य वर्ग' को संबोधित करते दिखे हैं। भाजपा ने अब इसकी पहचान गरीबी से उठे ऐसे वर्ग के रूप में की है, जो अभी मध्य वर्ग के रूप में स्थिर नहीं हो पाया है। नव-आकांक्षाओं वाले इस वर्ग के लिए पार्टी ने कई लुभावने वादे किए हैं।

बहरहाल, घोषणापत्र के संदर्भ में निगाहें इस पर टिकी थीं कि भाजपा अपने 'मुख्य मुद्दों'- यानी अयोध्या में राम मंदिर निर्माण, समान नागरिक संहिता और धारा 370 के खात्मे के बारे में क्या कहती है। घोषणापत्र में इनका जिक्र हुआ, पार्टी ने अपना पुराना रुख दोहराया, लेकिन (संभवतः) चुनावी गठबंधन राजनीति की जरूरतों के मुताबिक नरमी के संकेत देने की कोशिश की। मसलन,

धारा 370 को रद्द करने का संकल्प जताते हुए पार्टी ने जोड़ा कि इस बारे में वह 'सभी हितधारकों से विचार-विमर्श' करेगी। राम मंदिर बनाने के प्रति वह वचनबद्ध है, मगर इसके लिए 'सभी संभावनाओं की तलाश वह संविधान के ढांचे के भीतर' करेगी, और समान नागरिक संहिता वह 'सर्वश्रेष्ठ परंपराओं के आधार पर और आधुनिक समय के अनुरूप' बनाएगी। मुस्लिम अल्पसंख्यकों के बारे में पार्टी ने इसे 'दुर्भाग्यपूर्ण' बताया कि उनका बड़ा हिस्सा आज भी गरीबी की गिरफ्त में है और कहा कि आबादी का कोई हिस्सा पीछे रह जाता है, तो भारत की प्रगति नहीं हो सकती। स्पष्टतः ये बातें वही हैं, जो मोदी सभी समूहों और वर्गों में अपनी स्वीकार्यता बनाने की मुहिम में कहते रहे हैं। इस पर खूब अटकलें लगीं कि भाजपा का घोषणा आने में देर क्यों लगी। मीडिया रपटों में पार्टी के अंदर मतभेदों को इसका कारण बताया गया। पार्टी ने अपने तैयार दृष्टि-पत्र को जारी करना टाल दिया तो ऐसी बातों को और बल मिला। बताया गया कि नव-उदारवादी विचारधारा और पार्टी के पारंपरिक सोच के समर्थकों के बीच विकास नीति को लेकर गहरी खाई है।

बहरहाल, 52 पेज के घोषणापत्र आया तो यही जाहिर हुआ कि नरेंद्र मोदी अब सिर्फ भाजपा के नेता ही नहीं, बल्कि उसके मार्ग-द्रष्टा भी हैं। उनकी सोच ही अब पार्टी की लाइन है। जब घोषणापत्र आने में देर हो रही थी, तो पार्टी के एक नेता और भाजपा समर्थक एक टीकाकार ने अलग-अलग लेकिन समान टिप्पणी की कि 'अब मोदी ही घोषणापत्र हैं, वे ही दृष्टि हैं।' कहा जा सकता है इसी बात की पुष्टि हुई, जब भाजपा ने अपना घोषणापत्र जारी किया।

यह दुनिया भर की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं का अनुभव है कि विचारधारा आधारित पार्टियां चुनावों के समय अपने समर्थन आधार में विस्तार करने के लिए मध्य मार्ग की तरफ बढ़ती हैं। चुनाव जीतना तभी मुमकिन होता है जब बहुत से ऐसे मतदाताओं का भी समर्थन मिले जो ऐसी पार्टियों के मुख्य समर्थन आधार का हिस्सा नहीं होते। संभवतः इसीलिए भाजपा ने अपने चुनाव घोषणापत्र में आबादी के

हर हिस्से के लिए वादे किए और जिन मसलों से आबादी के कुछ समूह छिटक सकते हैं उन पर परदा डाला। भाजपा ने शायद अतीत के अनुभव से यह सबक ग्रहण किया है कि शासन की स्वाभाविक पार्टी बनने के लिए उसे अपनी छवि सबके हितों की रक्षक की बनानी होगी। मगर ये छवि वास्तविक है, यकीन करना कठिन है। इसलिए पार्टी ने वास्तविक चुनाव अभियान में सांप्रदायिक आधार पर ही मतदाताओं की गोलबंदी करने की कोशिश की है।

कांग्रेस के घोषणापत्र पर गौर करें तो वह एक साथ नव-उदारवादी और समाजवादी दोनों दिखने की कोशिश में नजर आती है। नव-उदारवाद का एजेंडा कॉरपोरेट सेक्टर के लिए है, जिसके लिए पार्टी के पास मनमोहन सिंह का चेहरा (भविष्य उनकी विरासत) है। सामाजिक एजेंडा उन मतदाताओं के लिए है, जो सरकारें बनाते और हटाते हैं और उनके सामने रखने के लिए कांग्रेस के पास सोनिया गांधी का चेहरा है। लेकिन वे दोनों पार्टी का गुजरता वर्तमान हैं। नौजवानों और आबादी के नव-आकांक्षा वाले समूहों के सामने पेश करने के लिए चेहरा राहुल गांधी का है। मौजूदा आम चुनाव के लिए

कांग्रेस का घोषणापत्र असल में उन्हीं मुद्दों और कार्यक्रमों का मिला-जुला दस्तावेज है, जिनकी नुमाइंदगी ये तीन शिखरयतें करती हैं। यह दीगर सवाल है कि परस्पर विरोधी दिशाओं में जाती दिखने वाली कार्यसूचियों के बीच क्या सचमुच व्यावहारिक तालमेल बनाया जा सकता है?

कांग्रेस ने दावा किया है कि असल में ऐसा समन्वय ही देश के विकास का एकमात्र रास्ता है। बिना तीव्र आर्थिक विकास के कल्याणकारी कार्यक्रमों को नागरिकों का वैधानिक अधिकार बनाने के रास्ते पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। लेकिन सभी नागरिकों को लाभ नहीं मिला, तो विकास टिकाऊ नहीं हो सकता। तो सूचना, रोजगार, प्राथमिक शिक्षा, खाद्य सुरक्षा आदि जैसे अधिकारों को कानूनी रूप देने के बाद अब कांग्रेस का वादा स्वास्थ्य, स्वच्छता, आवास और यहां तक उद्यम को भी कानूनी अधिकार बनाने का है। दूसरी तरफ ऊंची आर्थिक विकास दर हासिल करने के लिए राजकोषीय अनुशासन और आर्थिक सुधारों का फॉर्मूला है। कांग्रेस ने सब्सिडी सिर्फ जरूरतमंद लोगों के लिए सीमित

करने, विदेशी निवेश के लिए सारे दरवाजे खोलने, परियोजनाओं को तीव्र गति से प्रक्रियागत एवं पर्यावरण मंजूरी देने, कर सुधार लागू करने आदि जैसे वादे किए।

राहुल गांधी कुछ समय से 'सैंडविच क्लास' से पार्टी को जोड़ने की बात करते रहे हैं। (इसे नरेंद्र मोदी नव-मध्य वर्ग कहते हैं) मतलब उन तबकों से, जो गरीबी रेखा से ऊपर आ गए हैं, लेकिन अभी मध्य वर्ग का हिस्सा नहीं हैं। ऐसे 80 करोड़ लोगों को मध्य वर्ग में लाने का सपना कांग्रेस चुनाव घोषणापत्र के जरिए बेचने जा रही है। मगर मुद्दा यह है कि क्या इसके खरीदार तैयार हैं? बीते दस वर्षों- खासकर यूपीए-2 के कार्यकाल- में कठिनाई यह नहीं थी कि कांग्रेस के पास नीतियों या कार्यक्रम का अभाव था। भ्रम दिशा को लेकर भी नहीं था। विफलता थी नेतृत्व के मोर्चे पर। सरकार और पार्टी के नेता जनता की बढ़ती आकांक्षाओं के मुताबिक

*नरेंद्र मोदी अब सिर्फ भाजपा के नेता ही नहीं, बल्कि उसके मार्ग-द्रष्टा भी हैं। उनकी सोच ही अब पार्टी की लाइन है। जब घोषणापत्र आने में देर हो रही थी, तो पार्टी के एक नेता और भाजपा समर्थक एक टीकाकार ने अलग-अलग लेकिन समान टिप्पणी की कि 'अब मोदी ही घोषणापत्र हैं, वे ही दृष्टि हैं।'*

प्रेरक नेतृत्व देने में विफल रहे। कठोर निर्णय लेने की इच्छाशक्ति उन्होंने नहीं दिखाई। सरकार नौकरशाही या यांत्रिक ढंग से चलाने की कोशिश की गई। बड़े घोटालों के खुलासे हुए तो वैचारिक मार्गदर्शन के अभाव में पूरी

पार्टी लकवाग्रस्त हो गई। आम जन से संवाद करने की उसकी क्षमता चूक गई। कांग्रेस की मौजूदा मुसीबत का मूल कारण यही है। ये कमियां कैसे दूर होंगी? जब तक यह नहीं होता, वादों से लबालब घोषणापत्र के जरिए चुनावी बैतरणी पार करना कठिन बना रहेगा।

अगर कुछ क्षेत्रीय दलों के घोषणापत्रों पर गौर करें तो उनमें कम से कम एक समान कथानक देखा जा सकता है। तृणमूल कांग्रेस और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में गहरी दुश्मनी है, लेकिन एक बिंदु पर दोनों की राय समान है- यह कि केंद्र के अधिकारों पर नियंत्रण लगना चाहिए और राज्यों को अधिक स्वायत्तता मिलनी चाहिए। तमिलनाडु में मारुलमलारची द्रविड़ मुनेत्र कडगम (एमडीएमके) ने तो बाकायदा यह मांग कर दी है कि भारत का नाम यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका की तर्ज पर यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इंडिया कर दिया जाए और भारतीय राज्यों को निर्णय प्रक्रिया में उतने हक मिलें, जितना अमेरिकी राज्यों को मिले हुए हैं। तृणमूल कांग्रेस ने कहा है- 'संघीय व्यवस्था के प्रति हमारे



संविधान की वचनबद्धता को व्यवहार में उसकी भावना के मुताबिक नहीं निभाया गया' और अब वक्त आ गया है जब 'राज्यों को सशक्त किया जाए।'

माकपा ने संविधान संशोधन की मांग उठाई है, ताकि किसी राज्य के बंटवारे के समय उसकी विधानसभा की सहमति को अनिवार्य किया जा सके। इन दलों ने ये बातें अपने चुनाव घोषणापत्र में कही हैं। कुछ समय पहले अन्ना-डीएमके ने अपना घोषणापत्र जारी किया तो उसने मांग उठाई कि भारत की विदेश नीति राज्यों की संवेदनशीलता का ख्याल रखते हुए तय की जानी चाहिए। ये स्वर ऐसे हैं, जिन्हें अब नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यह क्षेत्रीय दलों की भारतीय राज्य-व्यवस्था में बढ़ती ताकत की ही मिसाल है, उनकी ऐसी राय से असहमति जताने को कोई तैयार नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार कभी एकात्मक शासन की वकालत करता था। लेकिन अब उसी परिवार की सदस्य भारतीय जनता पार्टी ने कहा है कि वह विदेश नीति जैसे मुद्दों पर राज्यों से अधिक राय-मशविरे के पक्ष में है। कांग्रेस को भी क्षेत्रीय दलों के बीच से ही गठबंधन सहयोगी की उम्मीद रहती है, इसलिए वह इस मुद्दे पर कोई अलग राय जताने को तैयार नहीं है। जबकि यूपीए सरकार को ममता बनर्जी एवं तमिलनाडु की पार्टियों के रुख के कारण बांग्लादेश और श्रीलंका से संबंधों के मामले में अपमानजनक स्थितियों का भी सामने करना पड़ा। स्पष्ट है, भारतीय राज्य-व्यवस्था ऐसे मोड़ पर है, जब उसके स्वरूप में आमूल बदलाव आ सकता है।

मगर क्या वे पार्टियां सामाजिक मुद्दों पर कोई नई वैचारिक पहल करने की स्थिति में हैं, जिनकी जड़ें कांग्रेस और भाजपा से अलग रही हैं। मसलन, समाजवादी पार्टी, जनता दल(यू) और राष्ट्रीय जनता दल समान विचार परिवार (लोहियावाद) से जुड़े दल हैं। आबादी के लिहाज से दो सबसे बड़े राज्यों- उत्तर प्रदेश और बिहार- में अपनी ताकत के बूते सवा दो दशकों इन्होंने राष्ट्रीय राजनीति में अपनी प्रासंगिकता बनाए रखी है। इनका उभार सामाजिक न्याय की सियासत करते हुए हुआ। मगर विचारधारात्मक अवधारणाओं को समय के साथ विकसित ना किया जाए तो वे किस तरह रूढ़ हो जाती हैं, उनकी समझ अब इसकी मिसाल बन गई है। आम चुनाव के लिए इन तीनों पार्टियों के घोषणापत्रों पर गौर करें तो जाहिर होता है कि इनकी सामाजिक न्याय की धारणा आरक्षण से आगे नहीं निकल सकी है। इनके विचार परिदृश्य से संभवतः यह समझ गायब

है कि जातीय या सांप्रदायिक पहचान पर अत्यधिक जोर न्याय को एकांगी बना देता है, जो एक सीमा के बाद समग्र न्याय की धारणा के खिलाफ जाने लगता है।

मसलन, सपा को लें। समाजवादी पार्टी तो समाज में मौजूद सभी पूर्वाग्रहों को पोषित करते हुए और कई बार उन्हें बढ़ाते हुए राजनीति करती दिखती है। उसके घोषणापत्र के सारतत्व को दो वाक्यों में समेटा जा सकता है- पहला, पार्टी ने जातीय और सांप्रदायिक भावनाओं तथा लैंगिक वर्चस्व की मानसिकता को हवा देते हुए समर्थन जुटाने की कोशिश की है। दूसरा, उसका प्रयास फायदे या खैरात बांटने का हर मुमकिन वादा कर वोट खरीदने का है। संसद में सपा महिला आरक्षण विधेयक का विरोध करने वाली पार्टियों में आगे रही है और अब उसका वादा है कि अगर अगली सरकार में उसकी प्रमुख भूमिका बनी तो वह पिछले वर्ष बलात्कारियों को सजा देने के लिए बने सख्त कानून में संशोधन करेगी ताकि इसका 'दुरुपयोग' रोका जा सके। अपने पिछड़े और मुस्लिम समीकरण के साथ सवर्ण जातियों को जोड़ने की मंशा से उसने इन जातियों के गरीब तबकों की समस्याओं पर विचार करने के लिए सवर्ण आयोग बनाने का वादा किया। जाहिर है, सपा के सामाजिक न्याय का चक्र 360 डिग्री घूम चुका है। मगर जिस पार्टी की समझ में सामाजिक न्याय का मतलब आरक्षण से एक इंच भी आगे नहीं जाता हो, उससे और क्या अपेक्षा हो सकती है? सवर्ण आयोग से उन जातियों के गरीबों का क्या भला होगा? साफ है, यह सिर्फ मनोवैज्ञानिक चारा है। ठीक उसी तरह का जैसा मुसलमानों को उनकी आबादी के अनुपात में आरक्षण और मुस्लिम बहुल सभी इलाकों में उर्दू माध्यम के स्कूल खोलने के सब्जबाग दिखाए गए हैं। किसानों, खेतिहर मजदूरों और सरकारी कर्मचारियों के लिए भी तोहफों के ऐसे ही वायदे किए गए हैं। मगर प्रश्न है कि इनसे उत्तर प्रदेश के विकास का क्या रास्ता निकलता है?

इसी तरह राष्ट्रीय जनता दल ने निजी क्षेत्र में अनुसूचित जाति-जन जातियों, और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण का राग छेड़ा है। बिहार में उसके प्रतिद्वंद्वी आरजेडी ने तो न सिर्फ अल्पसंख्यकों को सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण देने का, बल्कि अत्यंत पिछड़ी जाति श्रेणी में शामिल 14 जातियों को अनुसूचित जाति/जनजाति का दर्जा देने का वादा भी कर दिया है। इन घोषणापत्रों की रोशनी में यह समझना कठिन नहीं है कि भारतीय मतदाताओं के सामने इस चुनाव में कैसे विकल्प मौजूद हैं।

# भाड़ में जाएं ऐसे दलित नेता !

भंतर मेघवंशी

देश में दलित बहुजन मिशन के दो मजबूत स्तंभ अचानक ढह गए, एक का मलबा भाजपा मुख्यालय में गिरा तो दूसरे का एनडीए में, मुझे कोई अफसोस नहीं हुआ, मिट्टी जैसे मिट्टी में जा कर मिल जाती है, ठीक वैसे ही सत्ता पिपासु कुर्सी लिप्सुओं से जा मिले। वैसे भी इन दिनों भाजपा में दलित नेता थोक के भाव जा रहे हैं, राम नाम की लूट मची हुई है, उदित राज (रामराज), रामदास अठावले, रामविलास पासवान जैसे तथाकथित बड़े दलित नेता और फिर मुझ जैसे सैकड़ों छुटभैय्ये, सब लाइन लगाए खड़े हैं कि कब मौका मिले तो सत्ता की बहती गंगा में डुबकी लगा कर पवित्र हो लें।

एक तरफ पूंजीवादी ताकतों से धर्मान्ध ताकतें गठजोड़ कर रही हैं तो दूसरी तरफ सामाजिक न्याय की शक्तियां साम्प्रदायिक ताकतों से मेलमिलाप में लगी हुई हैं, नीली क्रांति के पक्षधरों ने आजकल भगवा धारण कर लिया है, रात दिन मनुवाद को कोसने वाले 'जयभीम' के उद्घोषक अब 'जय सियाराम' का जयघोष करेंगे। इसे सत्ता की भूख कहें या समझौता अथवा राजनीतिक समझदारी या शरणागत हो जाना ?

आरपीआई के अठावले से तो यही उम्मीद थी, वैसे भी बाबा साहब के वंशजों ने बाबा की जितनी दुर्गत की, उतनी तो शायद उनके विरोधियों ने भी नहीं की होगी, सत्ता के लिए जीभ बाहर निकालकर लार टपकाने वाले दलित नेताओं ने महाराष्ट्र के मजबूत दलित आंदोलन को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और हर चुनाव में उसे बेच खाते हैं। अठावले जैसे बिकाऊ नेता कभी एनसीपी, कभी शिवसेना तो कभी बीजेपी के साथ चले जाते हैं, इन जैसे नेताओं की तो बात ही छोड़िए, जब क्रांतिकारी कवि नामदेव ढसाल

जैसे दलित पैंथर ही भीम शक्ति को शिवशक्ति में विलीन करने जा खपे तो अठावले को तो जाना ही है। रही बात खुद को आधुनिक आंबेडकर समझ बैठे उत्तर भारत के बिकाऊ दलित लीडरों की, तो वे भी कोई बहुत ज्यादा भरोसेमंद कभी नहीं रहे, लोककथाओं के महानायक का सा दर्जा प्राप्त कर चुके प्रचंड आंबेडकरवादी बुद्ध प्रिय मौर्य पहले ही सत्ता के लालच में गिर कर गेरूआ धारण कर चुके हैं, फिर उनकी हालत ऐसी हुई कि धोबी के प्राणी से भी गए बीते हो गए, अब पासवान फिर से पींगे बढ़ाने चले हैं एनडीए से। इन्हें रह-रह कर आत्मज्ञान हो जाता है, सत्ता की मछली है बिन सत्ता रहा नहीं जाता, तड़प रहे थे, अब इलहाम हो गया कि नरेन्द्र मोदी सत्तासीन हो जाएंगे, आखिर अपने नीलनेत्र पुत्ररतन चिराग पासवान का भविष्य जो बनाना है, पासवान



जी, जिन बच्चों का बाप आप जैसा जुगाडू नेता नहीं, उनके भविष्य का क्या होगा ? अरे दलित समाज ने तो आप को माई बाप मान रखा था, फिर सिर्फ अपने ही बच्चे की इतनी चिन्ता क्यों ? बाकी दलित बच्चों की क्यों नहीं ? फिर जिस वजह से वर्ष 2002 में आप एनडीए का डूबता जहाज छोड़ भागे, उसकी वजह बने मोदी क्या अब पवित्र हो गए ? क्या हुआ गुजरात की कल्लो गारत का, जिसके बारे में आप जगह-जगह बात करते रहते थे। दंगों के दाग धुल गए या ये दाग भी अब अच्छे लगने लगे ?

एक थे रामराज, तेजतरार दलित अधिकारी, आईआरएस की सम्मानित नौकरी, बामसेफ की तर्ज पर एससी एसटी अधिकारी कर्मचारी वर्ग का कॅम्पेडेशन बनाया, उसके चेयरमेन बने, आरक्षण को बचाने की लड़ाई के योद्धा बने, देश के दलित बहुजन समाज ने इतना नवाजा कि नौकरी छोटी दिखाई पड़ने लगी, त्यागपत्रित हुए, इंडियन जस्टिस पार्टी बनाई, रात दिन पानी पी-पी कर मायावती को कोसने का काम करने लगे।

हिन्दुओं के कथित अन्याय अत्याचार भेदभाव से तंग आकर बुद्धिस्ट हुए, रामराज नाम हिंदू टाइप का लगा तो सिर मुंडवा कर उदितराज हो गए। सदा आक्रोशी, चिर उदास जैसी छवि वाले उदितराज भी स्वयं को इस जमाने का आंबेडकर मानने की गलतफहमी के शिकार हो गए, ये भी थे तो जुगाडू ही, पर बड़े त्यागी बने फिरते, इन्हें लगता था कि एक न एक दिन सामाजिक क्रांति कर देंगे, राजनीतिक क्रांति ले आएंगे, देश-दुनिया को बदल देंगे, मगर कर नहीं पाए, उम्र निरंतर ढलने लगी, लगने लगा कि और तो कुछ बदलेगा नहीं खुद ही बदल लो, सो पार्टी बदल ली और आज वे भी भाजपा के हो लिए।

डॉ. उदित राज के चले-चपाटे सोशल मीडिया पर उनके भाजपा की शरण में जाने के कदम को एक महान अवसर, राजनीतिक बुद्धिमता और उचित वक्त पर उठाया गया उचित कदम साबित करने की कोशिशों में लगे हुए हैं। कोई कह रहा है - वो वाजपेयी ही थे जिन्होंने संविधान में दलितों के हित में 81, 82, 83 वां संशोधन किया था, तो कोई दावा कर रहा है कि अब राज साहब भाजपा के राज में प्रौत्रति में आरक्षण, निजी क्षेत्र में आरक्षण जैसे कई वरदान दलितों को दिलाने में सक्षम हो जाएंगे, कोई तो उनके इस कदम की आलोचना करने वालों से यह भी कह रहा है कि उदितराज की पहली पसंद तो बसपा थी, वे एक साल से अपनी पसंद का इजहार कुमारी मायावती तक पहुंचाने में लगे थे लेकिन उनकी सुनी नहीं, बसपा ने महान अवसर खो दिया वर्ना ऐसा महान दलित नेता भाजपा जैसी पार्टी में भला क्यों जाता? एक ने तो यहां तक कहा कि आज भी मायावती से सतीश मिश्रा वाली जगह दिलवा दो, नियुक्ति पत्र ला दो, कहीं नहीं जाएंगे उदित राज! अरे भाई, सत्ता की इतनी ही भूख है तो कहीं भी जाएं, हमारी बला से भाड़ में जाएं उदित राज! क्या फरक पड़ेगा आंबेडकरी मिशन को? बुद्ध, कबीर, फुले, पेरियार तथा आंबेडकर का मिशन तो एक विचार है, एक दर्शन है, एक कारवां है, अविरल धारा है, लोग आएंगे जाएंगे। नेता लूटेंगे, टूटेंगे, बिकेंगे, पद और प्रतिष्ठा के लिए



अपने-अपने जुगाड़ बिठाएंगे, परेशानी सिर्फ इतनी सी है कि रामराज से उदितराज बने इस भगौड़े दलित लीडर को क्या नाम दें, उदित राज या राम राज्य की ओर बढ़ता रामराज अथवा भाजपाई उदित राम ! एक प्रश्न यह भी है कि बहन मायावती के धुरविरोधी रहे उदित राज और रामविलास पासवान सरीखे नेता भाजपा से चुनाव पूर्व गठबंधन कर रहे हैं अगर चुनाव बाद गठबंधन में बहन जी भी इधर आ गईं तो एक ही घाट पर पानी पिओगे प्यारो या फिर भाग छूटोगे ?

इतिहास गवाह है कि बाबा साहब की विचारधारा से विश्वासघात करने वाले मिशनद्रोही तथा कौम के गद्दारों को कभी भी दलित बहुजन मूल निवासी समुदाय ने माफ नहीं किया। दया पवार हो या नामदेव ढसाल, संघप्रिय गौतम, बुद्धप्रिय मौर्य अथवा अब रामदास अठावले, रामविलास पासवान तथा उदित राज जैसे नेता, इस चमचायुग में ये चाहे कुर्सी के खातिर संघम् (आरएसएस) शरणम् हो जाएं, हिन्दुत्व की विषमकारी और आक्रान्त राजनीति के तलुवे चाटे मगर दलित बहुजन समाज बिना निराश हुए अपने आदर्श बाबा साहब डॉ. भीमराव आंबेडकर के विचारों की रोशनी में आगे बढ़ेगा, उसे अपने समाज के बिकाऊ नेताओं के 'भगवा' धारण करने का कोई अफसोस नहीं होगा, अफसोस तो इन्हीं को करना है, रोना तो इन्हीं नेताओं को है। हां, यह दलित समाज के साथ धोखा जरूर है, मगर काला दिन नहीं, दोस्तो वैसे भी मोदी की गोदी में जा बैठे नेताओं के बूते कभी सामाजिक परिवर्तन का आंदोलन सफलता नहीं प्राप्त करता, ये लोग अंदर ही अंदर हमारे मिशन को खत्म कर रहे थे, अच्छा हुआ कि अब ये खुलकर हमारे वर्ग शत्रुओं के साथ जा मिले। हमें सिर्फ ऐसे छद्म मनुवादियों से बचना है ताकि बाबा साहब का कारवां निरन्तर आगे बढ़ सके और बढ़ता ही रहे ..... !

(लेखक दलित आदिवासी एवं घुमन्तु वर्ग के प्रश्नों पर राजस्थान में सक्रिय है तथा स्वतंत्र पत्रकार है)

# मीडियाशाही और मेक्सिको के सबक

पी कुमार मंगलम

नरेंद्र मोदी या फिर अरविंद केजरीवाल या राहुल गांधी? आजकल अगर आप दोस्तों-रिश्तेदारों, लोकतंत्र के अपने अनुभवों का रोना रोते बुजुर्गों और अतिउत्साहित 'नये' वोटों को सुनें, तो बात यहीं शुरू और खत्म हुआ करती है। जब 2014 के लोकसभा चुनावों का दौर शुरू हो चुका है, तब सभी संभावित राजनीतिक विकल्पों की गहरी पड़ताल के बजाए पूरी बात का सिर्फ इन चेहरों पर टंग जाना क्या स्वाभाविक है? आदि-समाजवाद से लेकर 'ग्लोबलाइज्ड' समय के बीच की खिचड़ी सच्चाईयों से निकलते अनेकों जनसंघर्षों के इस दौर में सिर्फ 'परिवार', 'संघ-परिवार' और 'अपनी ईमानदारी' की 'उपलब्धि' लिए घूमते इन चेहरों का यूँ छया रहना तो और भी अचरज भरा है! हालांकि, अगर इन दिनों चारों ओर से आ रही 'पल-पल की खबरों' पर गौर करें, तो चुनावों के मीडियाई नियंत्रण की कड़ियां अपने-आप खुलने लगती हैं। साथ ही, दुनिया के 'सबसे बड़े' भारतीय लोकतंत्र का खोखलापन भी नजर आता है। वैसे, बात सिर्फ भारत की ही नहीं है। 'विकासशील' या फिर 'तीसरी दुनिया' का ठप्पा झेलते देशों में 'जनता का शासन' अक्सर न दिखने वाले या फिर दिखने में लुभाऊ लगने वाले ऐसे ही फंदों से जकड़ा है। यहां हम लातीनी अमरीकी देश मेक्सिको में जनतंत्र के पिछले कुछ दशकों के अनुभवों की चर्चा करते हुए अपनी बात स्पष्ट करेंगे।

## हड़प लिए गए लोकतंत्र की त्रासदी

हम शायद ही कभी यह सोचते हैं कि सिर्फ एक देश संयुक्त राज्य अमरीका का आम प्रयोग (हिंदी में और ज्यादा) में अमरीका कहा जाना एक शब्द के गलत प्रयोग से कहीं ज्यादा है। जैसा कि समकालीन लातीनी अमरीकी लेखक एदुआर्दो गालेआनो का कहना है, यह इस एक देश (अब से आगे यू.एस.) के द्वारा अपनी दक्षिणी सीमा के बाद शुरू होते लातीनी अमरीका का भूगोल, इतिहास, संस्कृति और राजनीति हथियाकर इस पूरे क्षेत्र को "एक दोयम अमरीका" में बदल देने की पूरी दास्तान है। यहां हम इस भयावह सच के पूरे ताने-बाने और अभी तक चल रहे सिलसिले की बात तो नहीं कर सकते, लेकिन मेक्सिको की बात करते हुए

इसके कई पहलू खुलेंगे।

भूगोल के हिसाब से उत्तरी अमरीका में होने और यू.एस. से बिल्कुल सटे होने के बावजूद मेक्सिको स्पानी भाषा और स्पानी औपनिवेशिक इतिहास के साथ सीधे-सीधे दक्षिणी अमरीका का हिस्सा है। इस जुड़ाव की सबसे अहम बात यह है कि 1810-25 के बीच स्पानी हुकूमत से बाहर निकले मेक्सिको, मध्य और दक्षिणी अमरीका में बोई गई सामाजिक-आर्थिक गैरबराबरी, धनिकों के राजनीतिक वर्चस्व और यू.एस. की दादागिरी की नर्सरी भी यही देश रहा है। बात चाहे इस 'आजादी' के बाद भी स्पेनवंशी क्रियोल और मिली-जुली नस्ल के स्थानीय पूंजीपतियों के पूरे देश के संसाधन, संस्कृति और सत्ता पर कब्जे की हो या 1844-48 में यू.एस. द्वारा मेक्सिको की आधी जमीन लील लिए जाने की हो, मेक्सिको कल और आज के लातीनी अमरीका की कई झांकियां दिखलाता है।

'आजाद' मेक्सिको की लगातार भयावह होती गैरबराबरियों के खिलाफ वहां के भूमिहीन किसानों और खान मजदूरों का गुस्सा 1910 की मेक्सिको क्रांति बनकर फूटा। हालांकि, बहुत जल्द ही ब्रिटिश, फ्रांसीसी और आगे चलकर यू.एस. के बाजार और पैसे पर पलते क्रियोल वर्ग ने बदलाव के संघर्षों को बर्बरता से कुचल डाला था। 1930 के दशक में उत्तर के पांचो विया और दक्षिण में चियापास क्षेत्र के एमिलियानो सापाता जैसे क्रांतिकारी नेताओं की हत्या कर बड़ी पूंजी और सामाजिक भेदभाव की शक्तियों ने पूरे राज्य तंत्र पर कब्जा कर लिया था। 1929 में राष्ट्रपति रहे प्लुतार्को कायेस ने पीआरआई (व्यवस्थागत क्रांति का दल) बनाकर इन शक्तियों को संगठन और वैचारिक मुखौटा दिया। जैसा कि नाम से ही जाहिर है, यह पार्टी क्रांति के दौर में जोर-शोर से उठी समानता और न्याय की मांगों को एक अत्यधिक केंद्रीकृत राष्ट्रपति प्रणाली वाली व्यवस्था में दफनाने की शुरुआत थी।

प्लुतार्को कायेस के बाद आए सभी राष्ट्रपतियों ने जनआकांक्षाओं का गला घोटने वाली इस व्यवस्था को मजबूत किया। मजेदार बात यह कि यह सब लगातार जनता

के नाम पर, लोकप्रिय नायकों की मूर्तियां वगैरह बनवाकर तथा लोकगीतों-लोककथाओं के कानफोडू सरकारी प्रचार के साथ-साथ किया गया! मूलवासियों सहित अन्य वंचित तबकों की कीमत पर विदेशी पूंजी का रास्ता बुहारती पीआरआई सरकारें यू. एस. शासन-व्यवस्था की सबसे करीबी सहयोगी बन गई थी। आश्चर्य नहीं कि जब 1950 के दशक में हॉलीवुड में “कम्युनिस्ट” कहकर चार्ली चैपलिन जैसे कलाकारों को निशाना बनाया जा रहा था, तब वहां के सरकारी फिल्मकारों ने मेक्सिको क्रांति के नायकों को खलनायक दिखाई फिलमें ही बना डाली! 1953 में आई एलिया काजान की ऐसी ही एक फिल्म में चियापास के भूमिहीन किसानों के योद्धा रहे एमिलियानो सापाता को बातूनी और छुटभैया गुंडा बना दिया गया था!

‘आजाद’ मेक्सिको के आर्थिक-राजनीतिक हालातों की कुछ बारीकियां 1947 के बाद के भारत को समझने में मदद करती हैं। मसलन, जहां मेक्सिको में औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, सत्ता और समाज में हावी रहे क्रियोल वर्ग ने

नए निजाम पर जबरन कब्जा किया, वहीं भारत में अंग्रेजी राज से उपजे सवर्ण जमींदार 1947 के बाद “देशभक्ति” और खादी ओढ़कर पूरी व्यवस्था पर पसर गए! फिर, जहां मेक्सिको में शासक वर्गों ने पीआरआई का लुभावना

सरकारी मुखौटा तैयार किया, वहीं ‘आजाद’ भारत की कांग्रेस ब्राह्मणवादी सामंतों के हाथों कैद होकर रह गई थी। यह जरूर है कि मेक्सिको में चियापास के मूलवासियों सहित भूमिहीनों-छोटे किसानों पर खुलेआम चली राजकीय हिंसा के बरक्स भारत में यह हिंसा ‘लोकतंत्र’, ‘विकास’ और ‘राष्ट्रवाद’ के दावे से दबा दी जाती रही है। स्वरूप जो भी रहा हो, पूरी व्यवस्था पर गिनती के शोषक वर्गों के कब्जे ने दोनों ही देशों की बड़ी आबादी को अपनी ही जमीन पर तिल-तिल कर खत्म होने को मजबूर किया। इस पूरी प्रक्रिया में अपनी जीविका, भाषाओं और संस्कृतियों पर रोज ‘विकास’ के हमले झेलते भारत और मेक्सिको के मूलवासी बहुल क्षेत्र “सत्ता-केंद्र से पूरी योजना के साथ थोपे गए पिछड़ेपन” की जीती-जागती मिसाल बने। वैसे, 1991 के बाद से ‘जनहित’ के नाम पर बड़ी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय कंपनियों के

लिए खुलकर किसानों-मजदूरों की जमीन और रोजगार छिनते भारतीय लोकतंत्र का ‘मानवीय’ मुखौटा अपने-आप उतर गया है। इस पूरे दौर की एक खास बात यह रही है कि बड़े मीडिया समूह नव-उदारवादी नीतियों के सबसे बड़े पैरोकार बन पूरे देश में इन्हें लागू करने वाले दलों को एकमात्र राजनीतिक विकल्प बना कर पेश कर रहे हैं। ‘ग्लोबल’ कहकर खुद पर इठलाती कारपोरेट मीडिया के इस गोरखधंधे को समझने के लिए भी मेक्सिको एक अच्छा उदाहरण है, जो वैश्वीकरण की उलटबासियां काफी पहले से झेल रहा है।

## वैश्वीकरण और मीडियाशाही का मकड़जाल

यू. एस. से सटे होने के कारण मेक्सिको और फिर मध्य अमरीकी देश वैश्वीकरण के पहले शिकारों में रहे हैं। ‘उदारीकरण’ ‘आर्थिक सुधार’ आदि का लुभावना चेहरा देकर वैश्वीकरण की जो नीतियां आज पूरी दुनिया में लागू की जा रही हैं, मेक्सिको काफी पहले से उन सबकी प्रयोगशाला

*मेक्सिको के पीआरआई की तरह कांग्रेस भी जहां सत्ता के सभी खुले-छुपे हिस्सों पर वर्षों की अपनी पकड़ के बावजूद (या शायद इसी वजह से) वंचित तबकों के बुनियादी मुद्दे हल नहीं कर सकी, वहीं लोकप्रिय दिखने की चुनावी मजबूरियों के चलते वह आज कारपोरेट मुनाफे को खुली छूट भी नहीं दे सकती।*

रहा है। शायद यहीं से यह कहावत भी निकलती है- मेक्सिको, भगवान से इतना दूर और यू. एस. के इतना करीब! एक और खास बात यह कि लातीनी अमरीका के ज्यादातर देशों के उलट, जहां नव-उदारवादी नीतियां

भयानक तानाशाहियों के द्वारा थोपी गई, मेक्सिको में देश बेचने का काम छह साला चुनावों के साथ और संसाधनों की लूट का हिस्सा मध्यवर्ग में बांटकर किया गया। हालांकि, 1980 के बीतते-बीतते शोषित तबकों को हथियार और कभी-कभी ‘भागीदारी’ के सरकारी झुनझुने तथा मध्यवर्ग को ‘राष्ट्रवाद’ और ‘विकास’ के दावे से साधते रहने की पीआरआई की रणनीति चुक गई थी। तब, जहां महंगाई और मेक्सिकन मुद्रा पैसों की कीमत में भारी गिरावट से कंगाल हुए उच्च और मध्य वर्ग सरकार को नकारा घोषित कर रहे थे, वहीं सालों की लूट और अनदेखी से बरबाद आबादी का बड़ा हिस्सा अपने आंदोलन खड़ा कर रहा था।

1988 के राष्ट्रपति चुनावों में वंचित तबकों के जमीन और जीवन की मांगों को साथ लेकर पीआरडी (लोकतांत्रिक क्रांति का दल) के नेता तेउआनतेपेक कार्देनास पीआरआई

उम्मीदवार कार्लोस सालिनास गोर्तारी के खिलाफ लड़े। व्यापक जनसमर्थन और जबरदस्त लोकप्रियता (कार्देनास के पिता पूर्व समाजवादी राष्ट्रपति लासारो कार्देनास थे) के बावजूद वे चुनाव हार गए। जीत और हार का बहुत कम फासला किसी राजनीतिक उलट-फेर से नहीं, बल्कि सोची-समझी सरकारी साजिश से तय हुआ था। इलेक्ट्रॉनिक मतों की गिनती में कार्देनास शुरू से आगे चल रहे थे कि ठीक आधी रात को मशीनें 'अचानक' खराब हो गईं। और जब उन्हें 'ठीक-ठाक' कर अगली सुबह नतीजों का एलान किया गया, तो कार्देनास राष्ट्रपति के बजाय राष्ट्रपति के भूतपूर्व उम्मीदवार बन चुके थे। लोकतंत्र के खुल्लम-खुल्ला अपहरण में इस बार सरकारी भोंपू बने बड़े मीडिया ने 1994 के चुनावों में अपनी भूमिका निर्णायक रूप से बढ़ा ली थी। तब, पहले से ज्यादा संगठित पीआरआई और राज्यसत्ता तथा सबसे बड़े मीडिया समूह तेलीवीसा ने मिलकर खत्म कर डाला था। श्रम 'सुधार' और 'उदार' कर-व्यवस्था के नाम पर पूरी तरह से यू.एस. का हुकम बजाते नाफ्टा (उत्तर अमरीका मुक्त व्यापार समझौता) पर पीआरआई की बलैयां लेने वाली तेलीवीसा ने अपने कारनामों से जनमत सरकार के पक्ष में या ठीक-ठीक कहें तो पीआरडी के खिलाफ मोड़ दिया था।

सबसे पहले, तेलीवीसा ने अपने बड़े नेटवर्क और उस पर आम लोगों के भरोसे को भंजाते हुए पीआरआई उम्मीदवार एर्नेस्तो सेदियो को अन्य उम्मीदवारों के मुकाबले 10 गुना ज्यादा प्रचार दिया। फिर, पीआरआई विरोधी मतों को बांटने के लिए 1980 में खड़ी हुई कट्टर कैथोलिक रूझानों वाली पार्टी पान (राष्ट्रीय कारवाई का दल) को पीआरडी से ज्यादा तवज्जो देकर 'विपक्ष' बनाया गया। इतना ही नहीं, पीआरडी की राजनीतिक चुनौती को कुंद करने के लिए बिल्कुल उसी के सुर में मजदूर-किसान हित और व्यवस्था परिवर्तन की बात करने वाली पीटी (मजदूर दल) को रातों-रात सनसनीखेज तरीके से देश का 'हीरो' बना दिया गया। यह और बात है कि इस पार्टी का न तो पहले कभी नाम सुना गया था और न ही देश में इसका कोई संगठन था। यह सब करते हुए बाकी खबरें भी पीआरआई की जीत के हिसाब से तय हो रहीं थीं। मसलन, चुनाव से ठीक पहले सर्बिया-बोस्निया गृहयुद्ध और दूसरे देशों के अंदरूनी झगड़ों को बार-बार बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया। इशारा साफ था, अगर मेक्सिको को टूटने या कमजोर होने से बचना है, तो देशवासियों को 'अनुभवी' और 'सबको साथ लेकर चलने वाली' पीआरआई का साथ देना ही चाहिए। पीआरडी को,

जिसके हजारों कार्यकर्ता सरकारी हिंसा का शिकार हुए, और चियापास में भूमिहीन मूलवासियों के हथियारबंद सापातिस्ता आंदोलन को बतौर 'खलनायक' पेश किया गया।

तेलेवीसा की अगुआई में बड़ी मीडिया की इन सब कलाबाजियों का नतीजा पीआरडी की एक और हार तथा पीआरआई की 'जीत' के रूप में सामने आया। पहले से ही विदेशी पूंजी पर टिके और नाफ्टा में प्रस्तावित कर 'सुधार' आदि से अपनी कमाई कई गुना बढ़ाने को आतुर बड़ी मीडिया ने इस जीत को को तुरत-फुरत 'ऐतिहासिक' भी बता दिया था। वैसे इस जीत का असली खिलाड़ी तो सिर्फ रेफरी होने का ढोंग कर रहा यही मीडिया था, जिसने अपनी और अन्य धनकुबेरों की बेशुमार दौलत की खातिर मुनाफे की एक और सरकार बनवा दी थी। यहां बताते चलें कि पीआरआई के लिए चंदे की खातिर रखे गए सिर्फ एक रात्रि-भोज के दौरान 75 करोड़ डालर (करीब 45 सौ करोड़ रू.) जुटाए गए, जिसमें 7 करोड़ डालर (करीब 4 सौ 27 करोड़ रू.) तो तेलीवीसा के मालिक एमीलीयो इसकारागा ने ही दिए थे!

'लैटिन अमेरिका इन क्राइसिस' (संकटग्रस्त लातीनी अमरीका) के लेखक जान डब्ल्यू शेरमान ने मेक्सिको में बड़ी मीडिया के द्वारा रचे गए 'लोकतंत्र' के इस नाटक को 'मीडियाक्रेसी' (मीडियाशाही) कहा है। इस 'मीडियाशाही' में आबादी के बड़े हिस्से की सोच पर हावी एक या एक से अधिक कारपोरेट मीडिया, जैसे मेक्सिको में तेलीवीसा, अपने फायदे की सरकार बनाते-गिराते रहते हैं। यहां इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि सत्ता में कौन सी पार्टी आ रही है, बस इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि जो भी आए इस मीडिया के काम आए। अपने मतलब के लिए सत्तासीन पार्टियों की अदला-बदली तो यहां की खास रवायत है। साल 2000 आते-आते मेक्सिको यह सब कुछ देख चुका था, जब राष्ट्रपति चुनावों में जीत का सेहरा पीआरआई के बजाय 'पान' के सिर बांधा गया। धार्मिक कट्टरता के अपने सभी दावों को बड़ी चालाकी से छुपा पान अब बाजार की सबसे बड़ी हिमायती पार्टी बन गई थी और देश को नए राष्ट्रपति के रूप में कोका-कोला (मेक्सिको) के मुखिया रहे विसेंते फाक्स का ब्रांडेड तोहफा दिया था।

## भारत और मीडियाशाही की 'लहरे'

चुनावों से ठीक पहले ज्यादातर टी.वी. और अखबार मोदी तथा उनके मनपसंद प्रचार-हथकंडों, जैसे गुजरात में 'विकास' की विडंबनाओं पर घुना चुप्पी और आतंकवाद

की तोतारटंत, से सज गए हैं। पूरी दुनिया का 'सच' "सबसे पहले" बताने-दिखाने का दावा करने वाली बड़ी मीडिया भला "हर-हर मोदी" के उन्माद में बौराए सा व्यवहार क्यों कर रही है। वैसे, कल तक यही मीडिया अस्सी-नब्बे के दशक से नेहरूवादी समाजवाद का अपना ही बुना भ्रमजाल तोड़कर कांग्रेस पर फिदा था। हो भी क्यों न, 'खबर' बेचने के अपने कारोबार में टेका-प्रथा और अधिकतम काम के लिए कम-से-कम पगार जैसे उदारीकरण के 'वरदानों' का सबसे ज्यादा फायदा भी तो इसी मीडिया ने उठाया है और आज जब शोषण और लूट की इन्हीं सब नीतियों के लिए मनमोहन सिंह "अंडरएचीवर" बन चुके हैं, तब यह मीडिया पूरी पेशेवर सफाई और 'निष्पक्षता' से कारपोरेट पूंजी के नए, 'सख्त', 'कठोर' आदि, आदि... सेवक बने नरेंद्र मोदी के साथ हो लिया है।

यहां मेक्सिको के जिन अनुभवों को रखा गया है, उनकी नजर से देखें तो कांग्रेस से बड़े मीडिया का इस तरह किनारा कर लेना ज्यादा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। मसलन, मेक्सिको के पीआरआई की तरह कांग्रेस भी जहां सत्ता के सभी खुले-छुपे हिस्सों पर वर्षों की अपनी पकड़ के बावजूद (या शायद इसी वजह से) वंचित तबकों के बुनियादी मुद्दे हल नहीं कर सकी, वहीं लोकप्रिय दिखने की चुनावी मजबूरियों के चलते वह आज कारपोरेट मुनाफे को खुली छूट भी नहीं दे सकती। इस तरह, 'विकास' और 'सबका साथ' के दावों के अपने ही अंतर्विरोधों में टूटी-फूटी यह पार्टी सिर्फ मुनाफे के लिए 'प्रतिबद्ध' बड़ी पूंजी की पहली पसंद नहीं रह गई है। वहीं, एकमुश्तिया वोट बटोरने के अपने हिंदू सांप्रदायिक एजेंडे को कारपोरेटी विकास की चकमक चाशनी में पेश करते मोदी बड़े मीडिया के लिए ज्यादा जिताऊ-बिकाऊ खिलाड़ी (जैसे मेक्सिको पान) बन चुके हैं।

आजकल मीडिया की लाड़ली बनी आम आदमी पार्टी के हो-हल्ले के पीछे झांके, तो लोकतंत्र पर भारी पड़ते पूंजी का खेल यहां भी दिख जाता है। सबसे पहले, सिर्फ पैसों के हेरफेर को भ्रष्टाचार समझने के चलताऊ नजरिए से लैस 'आप' ने भ्रष्टाचार की टी.वी. पर नहीं दिखने वाली, लेकिन हमारी पूरी व्यवस्था की जड़ में बैठी सच्चाइयों से लोगों का ध्यान हटा दिया है। फिर, इतिहास की कई नाइंसाफियों की उपज ऐसी सच्चाइयों को 'सामान्य' समझने-समझाने वाले हमारे समाज के बड़े हिस्से को बिना कोई जनांदोलन खड़ा किए 'ईमानदार' होने और व्यवस्था 'बदलने'

का फास्टफुडिया इल्हाम भी दे दिया गया है। यह तब जब दलितों-मुसलमानों-स्त्रियों सहित व्यवस्था के सभी शिकारों पर 'आम आदमी' के इस पार्टी का रवैया बिल्कुल सतही और आखिरकार शोषक सत्ताओं और विचारों को ही आगे बढ़ाने वाला है।

इस तरह, सत्ता के अत्यधिक केंद्रीकरण तथा पूंजीपतियों के ही हित साधने वाली मौजूदा आर्थिक नीतियों पर पूरी सहमति (याद करें केजरीवाल के 'अच्छे' उद्योगपतियों के 'बिजनेस' में दखल न देने की वह चारों तरफ छापी गई टिप्पणी।) के साथ 'आप' 'मुख्यधारा' की राजनीति के लिए कोई खतरा नहीं है। बल्कि, आज कारपोरेट व्यवस्था के लिए भी चंद नामों पर चलती और और देश के अलग-अलग हिस्सों से रोजाना उठ रही प्रतिरोध की अनगिनत आवाजों से कोई भी गहरा जुड़ाव न रखने वाली यह पार्टी एक वफादार और 'ईमानदार' 'विरोधी' बन रही है। आश्चर्य नहीं कि इसी व्यवस्था की जय-जयकार करती बड़े मीडिया, जो जनांदोलनों को "अराजक", "माओवादी" आदि बताकर खबरों से गायब कर दिया करता है, शुरू से ही 'आप' को चमका-दमका कर खड़ा करता आया है (बहुत-कुछ मेक्सिको के पीटी की तरह)। यह जरूर है कि जबर्दस्त संगठन और हिंदुत्व के वोटखींचू ताकत की वजह से लोकसभा चुनावों से पहले भाजपा इस मीडिया से 'आप' से ज्यादा तरजीह पा रही है, लेकिन आने वाले दिनों में जब मोदी का चेहरा रोज नए ग्राहक ढूंढती बड़ी पूंजी के काम का नहीं रहेगा, तब 'साफ-सुथरी' 'आप' को दुबारा हीरो बनते देर नहीं लगेगी।

कुल मिलाकर, चौबीसों घंटे की प्राइम टाइम खबर बने मोदी (जिनकी रैलियों और वहां जुटाई गई भीड़ को कई-कई कैमरों से बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जा रहा है), फिलहाल, सिर्फ विज्ञापनों की तरह बीच-बीच में दिखाए जाते केजरीवाल और छोटू बना दिए गए कांग्रेस और अन्य दलों के साथ बड़े मीडिया लोकतंत्र का एक और "महापर्व" रचने में जुट गया है। हालांकि, इस महापर्व को रचने-बेचने के लिए महाभारत और दबंग के नायकों (सभी मर्द और सवर्ण!) की आदि हो चुकी जनता को मुट्टी बांधे, लड़ने को तैयार मोदी और केजरीवाल या राहुल दिखाकर इनके "सीधे मुकाबले" का भुलावा भी दिया जा रहा है और, मेक्सिको की ही तरह यहां भी 'भविष्य' के इन चेहरों की नूराकुशती में हमारे जल-जंगल-जमीन को डकारते बड़ी पूंजी के खतरे पर कहीं कोई बात नहीं होती।

# स्वभाषा के जरिए ही मानसिक स्वतंत्रता

श्रीधर बर्वे

आज कल नई पीढ़ी को अंग्रेजी पढ़ाने पर ज्यादा जोर दिया जाता है। लेकिन न तो बच्चे अंग्रेजी सीख पाते हैं और न ही ठीक से हिंदी। जब भाषा पराई हो तो व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति ठीक से नहीं कर पाता। इसी पर विवेचना करता लेख।

श्रीधर बर्वे  
एक लेखक हैं।

पता:  
ई-2704 सुदामा नगर,  
इन्दौर, 452009 म.प्र.

फोन:  
0731-2489552

हमारे गणराज्य की स्थापना के 65 वर्षों में तमाम प्रगति और विकास के बावजूद देश समाज आदर्शहीनता से ग्रस्त हो रहा है। निजी आचरण और वर्तमान सामाजिक विकृतियों की बुनियाद में यही मुख्य कारण है।

समाज निर्माण और उसे संस्कारित करने का सबलतम उपाय शिक्षा है। देश का दुर्भाग्य है कि इस पवित्र और शक्तिशाली उपाय को हमारे शासकों ने खंड-खंड कर दिया है। विद्यालयीन शिक्षा में केवल सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलों का ही नहीं है बल्कि गैर सरकारी स्कूलों में भी भेद गरीब, मध्यमवर्ग, धनी उच्चवर्ग और अत्युच्च वर्ग के बच्चों के स्कूल में भी है। भेद-भाव पाठ्यक्रम व्यवस्थापकों संचालकों का भी है। प्रादेशिक शिक्षा बोर्ड है, सी.बी.एस.सी. और आय.एस.सी.ई. भी हैं। इनमें भी उच्चता-निम्नता की सोच काम करती है। जबकि हमारा देश का संविधान सपष्ट करता है कि लक्ष्य देश में समतावादी समाज स्थापना का है। शिक्षा द्वारा ही सोच बदली जा सकती है, दुखद है कि हमारे देश में शिक्षा व्यवस्था भेदभाव की गंगोत्री बना दी गई है। विडंबना यही समाप्त नहीं होती, धार्मिक, सांप्रदायिक समुदायों के स्कूल हैं, देशी भाषाओं के माध्यम और अंग्रेजी भाषा माध्यम के हैं। इनमें श्रेष्ठता तथा निम्नता के भेदभाव हैं। आशय है, जहां से समानता, समरसता की बुनियाद डाली जाती है, वहीं से कड़वाहट, विषमता और पक्षपात के बीज कोमल मस्तिष्कों में बो दिए जाते हैं।

स्थिति और दुखदायी तब बन जाती है जब ऐसे स्कूलों में पढ़ छात्र छात्राएं निकलते हैं तो उनके मस्तिष्कों में विरोधाभासी जानकारी भरी हुई होती है। ऐसे भी पाठ्यक्रम हैं जहां 1857 के हमारे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम को

सिपाहियों का गदर बताया जाता है, रामकृष्ण परमहंस को अर्ध विकसित और भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद जैसे स्वतंत्रता संग्राम के शूरवीर शहीदों को आतंकवादी निरूपित किया जाता है। ऐसी पृष्ठभूमि से विरोधाभासी ज्ञानवृत्ति की पीढ़ी के नागरिकों से सौहार्द्रपूर्ण, समरस तथा समता मूलक समाज के निर्माण की आशा करना बालू से तेल निकालने जैसी दुराशा करना है।

शालेय शिक्षा से उच्च शिक्षा की ओर देखें तो हालत ज्यादा अच्छी नहीं है। वर्गागत भेद तो हैं ही, साथ ही जो उच्च शिक्षित व्यक्ति शिक्षण संस्थाओं से निकल रहे हैं वे इंजीनियर हैं, डॉक्टर हैं, अभिभाषक हैं, प्रशासक हैं, मंत्री हैं परंतु अच्छे नागरिक नहीं हैं। बढ़ती उपभोक्ता जीवन दृष्टि और शैली ने उनका बर्बरता को पैना बनाकर समाज के प्रति लापरवाह बनाया है।

कथित उच्च जीवन स्तर सुख सुविधाओं के जुगाड़ में जीवन का सही अर्थ खो गया है। न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू ने इस परिप्रेक्ष्य में एक स्थान पर लिखा है- “हमने जीवन के सच्चे नायकों की उपेक्षा कर सतही नायकों की स्तुति करना आरंभ कर दिया है। मुझे कहते हुए दुख होता है कि देश की नई पीढ़ी विकृत संस्कृति की ओर बढ़ रही है। नई पीढ़ी के सरोकार धन, क्रिकेट, फिल्मी सितारों जैसी सतही बातों में सिमट कर रह गए हैं।”

दिशाहीनता और उत्साहहीनता के वातावरण में जीता हुआ समाज विशेषकर उच्च तथा मध्य वर्ग अमेरिकीकरण को अपना आदर्श मान राष्ट्र के प्रति उपेक्षा का भाव विकसित कर रहा है। इस क्रम में स्मरण करना प्रासंगिक होगा कि जो समाज अपनी जड़ों को विस्मृत



कर देता है, वह अनुर्वर हो जाता है। कृत्रिम और खोखला जीवन जीता उच्च वर्ग न केवल समाज के शेष वर्गों से कटा है, वह आत्म केंद्रित भी है।

जीवन मूल्यों में सबसे उदात्त एवं महत्वपूर्ण है- राष्ट्रवाद की भावना। राज्य के रूप में राष्ट्र जनता की चरम निष्ठा का पात्र है और आज के संसार की राजनीतिक वास्तविकता। राष्ट्रवाद की भावना देश के निवासियों को समस्त अन्य भावनाओं-विचारों और धारणाओं से ऊपर उठ कर राष्ट्र के साथ तादात्म्य स्थापित करने को प्रेरित करती है।

स्वस्थ राष्ट्रवाद की भावना ही देश के लोगों और समस्त क्षेत्रों में एकता, अपनत्व तथा जोड़ने का काम करती है। राष्ट्रवाद की भावना से मनुष्य जाति मुक्त नहीं हो सकती।

आम आदमी यदि राष्ट्रवादी नहीं होता तो वह मजहब, सांप्रदायिकता, जातिवाद जैसी संकीर्ण भावनाओं का शिकार हो जाएगा। राष्ट्रवाद मनुष्य को संकीर्णता से ऊपर उठाता है। सांप्रदायिकता और संकीर्ण भावनाएं राष्ट्रवाद को कमजोर करती हैं। वोट की राजनीति के चलते देश के राजनीतिक दलों ने संकीर्ण भावनाओं को उभार कर राष्ट्रवाद को

कमजोर किया है। यों भी शिक्षा पाठ्यक्रम में राष्ट्रवाद एक उपेक्षित विषय बना दिया गया है। 1947 में जो राष्ट्रवाद हमारी राष्ट्रीय पूंजी था उसे समाप्त-प्रायः कर दिया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वर्षों में देश एक ओर अंतरराष्ट्रीयता का भाव जोर पकड़ रहा था तो दूसरी ओर प्रादेशिकता (उपराष्ट्रीयता) का उभार भी प्रबल हो रहा था। राष्ट्रवाद की कड़ी छूटी जा रही थी। इस सच्चाई को रेखांकित करते हुए 1963 में डा. लोहिया ने ध्यान दिलाया था- “हिंदुस्तान सिर्फ सूबों और संसार को ही समझता है और राष्ट्रवाली बीच की कड़ी टूट गई है। दिल्ली हिंदुस्तान का सिर्फ प्रशासनिक केंद्र है। अधिकांश हिंदुस्तान का चाहे बंबई, कलकत्ता या मद्रास (के उच्च वर्ग का) सांस्कृतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक केंद्र और कहीं है। लंदन अधिकांश लोगों के लिए बौद्धिक प्रेरणा केंद्र है, जबकि

ज्यादा शौकीन लोगों का है न्यूयार्क या प्रेरिस। कलकत्ता से मद्रास या किसी और जगह से कहीं जाने का बौद्धिक रास्ता लंदन के जरिए है। कौन किसको जोड़ेगा ? (देश का) सांस्कृतिक या बौद्धिक केंद्र तो कोई है ही नहीं।”

अपकेंद्रीय स्थिति और बौद्धिक-सांस्कृतिक केंद्र के अभाव के कारण उपराष्ट्रीयता (प्रादेशिकता) की भावना अधिक दृढ़ हुई। समस्त राष्ट्र को जोड़ने वाली भावनात्मक कड़ियों को राजनीतिक स्वार्थों ने इतना कमजोर बना दिया कि राष्ट्रीय संस्कृति तथा स्वदेशी भाषाओं के मुद्दों को भुला दिया गया। राष्ट्रभाषा का विरोध करने वालों की तार्किकता समझ में तब आती जब उन्होंने अंग्रेजी भाषा से मुक्ति पाकर अपनी प्रादेशिक भाषाओं को प्रतिष्ठा से समस्त स्थानों पर आसीन

*वास्तव में देश में औपनिवेशिक मानसिकता के वर्चस्वकारी शासकों और प्रशासकों का षडयंत्र रहा है कि मानसिक गुलामी बनाए रखने के लिए भारतीय भाषाएं बनाम अंग्रेजी की प्रतिद्वंद्विता को हिन्दी बनाम शेष भारतीय भाषाओं के द्वंद्व में बदल दिया जाए। इसमें कोई झिझक नहीं है कि षडयंत्रकारी सफल हुए हैं। परिणाम सबके सामने हैं। हिंदी सहित देशी भाषाएं केवल किस्से, कहानी, कविता और विज्ञापन की वाहिकाएं बनाकर रख दी गई हैं।*

करा दिया गया होता। वास्तव में देश में औपनिवेशिक मानसिकता के वर्चस्वकारी शासकों और प्रशासकों का षडयंत्र रहा है कि मानसिक गुलामी बनाए रखने के लिए भारतीय भाषाएं बनाम अंग्रेजी की प्रतिद्वंद्विता को हिन्दी बनाम शेष भारतीय भाषाओं के द्वंद्व में बदल दिया जाए। इसमें कोई झिझक नहीं है कि षडयंत्रकारी सफल हुए हैं। परिणाम सबके सामने हैं।

हिंदी सहित देशी भाषाएं केवल किस्से, कहानी, कविता और विज्ञापन की वाहिकाएं बनाकर रख दी गई हैं। शिक्षा माध्यम, न्यायपालिका, कारपोरेट जगत, चिकित्सा जगत, राज-काज सर्वत्र अंग्रेजी छाई हुई है। देशी भाषाओं को उनकी जन्मजात प्रतिष्ठा और अधिकार प्रदान करने के लिए पूरा देश निष्क्रिय प्रतीत हो रहा है। भाषा और संस्कृति से जुड़े सभी क्षेत्रों में खामोशी छाई हुई है। इन क्षेत्रों से जुड़े लोग मान चुके हैं कि यथास्थिति ही सही है- अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से लड़ा नहीं जा सकता। यदि कोई निर्णय लेना है तो वह उनका नहीं सरकार का काम है। और सरकार अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व को पलटने का निर्णय क्यों करेगी? सरकार पर अभिजात और संभ्रांत वर्ग का वर्चस्व-दबदबा है। अंग्रेजी के कारण ही उन्हें यह रुतबा मिलता है इसलिए वह हर कीमत पर देशी भाषाओं को

दूर रखने में जुटा रहेगा।

प्रश्न या मुद्दा अंग्रेजी भाषा के विरोध का नहीं है देश में अंग्रेजी के विरोध का है। अंग्रेजी आज हमारे लिए बाह्य जगत का प्रकाश भीतर लाने वाली खिड़की कम है, हमारे मस्तिष्क को विदेशी प्रभुत्व और सत्ता का कैदी बनाने वाली दीवार अधिक है। ज्ञान की एक भाषा के रूप में अन्य विदेशी भाषाओं के साथ

अंग्रेजी बनाई रखी जा सकती है परंतु अंग्रेजी के ज्ञान के कारण देश में जो प्रभुता और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उसे समाप्त करना है क्योंकि देश का विशाल जनगण स्वयं को इस कारण उपेक्षित, अपमानित तथा अस्तित्वहीन समझता है।

अंग्रेजी नहीं जानने के कारण देश की विशाल जनसंख्या न केवल मूक रह जाती है, सरकारी दफ्तरों में ठगी सी रह जाती है—

बल्कि स्वतंत्रता प्राप्ति तथा गणराज्य की स्थापना के बावजूद देश के राजकाज के प्रति उसके मन में अपनत्व की भावना भी विकसित न हो पाई है।

शिक्षा जगत में स्वभाषा की उपेक्षा और अनादर के कारण एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो रही है जो न तो स्वभाषा में निष्णात है और न अंग्रेजी में। यह पीढ़ी लिखी पीढ़ी न स्वदेशी रह गई है— और न पूरी तरह पाश्चात्य। संप्रेषण के क्षेत्र में भी अपूर्ण रह गई है। क्योंकि भाषा विचारों की वाहक ही नहीं नए विचारों की गंगोत्री भी होती है। मूर्त ही नहीं अमूर्त विचारों का स्रोत भी भाषा ही होती है।

अफ्रीका के एक शिक्षाविद् और साहित्यकार डूंगी वा थ्योंगो ने अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है कि “यदि किसी की भाषा छीन ली जाए तो वह हमेशा के लिए मानसिक रूप से गुलाम बन सकता है।” व्यक्ति ही नहीं राष्ट्रों के रूप में भी इसके उदाहरण विश्व में मौजूद हैं। अफ्रीका के अधिकांश देश, एशिया का फिलीपीन्स और ओशियानिया के प्रायः समस्त द्वीप देश तथा कैरीबियन के देश इस क्रम में गिनाए जा सकते हैं।

श्री अरविंद के कथन का स्मरण इस परिप्रेक्ष्य में

प्रासंगिक होगा। वे कहते हैं कि “भारत केवल एक भूखंड, एक राज्य ही नहीं है। भारत एक शाश्वत संस्कृति की धारा है, जिसका मानवजाति के लिए एक संदेश है।”

उचित समय आ गया है कि हम स्वयं को पहचाने। विश्व के सांस्कृतिक और बौद्धिक रंगमंच पर अपनी भूमिका भी चिन्हित करना है। जरूरी है कि भारत को स्वयं बचाने

*प्रश्न या मुद्दा अंग्रेजी भाषा के विरोध का नहीं है देश में अंग्रेजी के विरोध का है। अंग्रेजी आज हमारे लिए बाह्य जगत का प्रकाश भीतर लाने वाली खिड़की कम है, हमारे मस्तिष्क को विदेशी प्रभुत्व और सत्ता का कैदी बनाने वाली दीवार अधिक है। ज्ञान की एक भाषा के रूप में अन्य विदेशी भाषाओं के साथ अंग्रेजी बनाई रखी जा सकती है परंतु अंग्रेजी के ज्ञान के कारण देश में जो प्रभुता और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उसे समाप्त करना है क्योंकि देश का विशाल जनगण स्वयं को इस कारण उपेक्षित, अपमानित तथा अस्तित्वहीन समझता है।*

के लिए अपनी भाषा और संस्कृति भी बचानी होगी। भाषा और आत्मबोध मिलकर ही मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। भाषा ही संस्कृति का निर्माण करती है और यही हमारी राष्ट्रीय अस्मिता की बुनियाद भी है।

इस तारतम्य में अज्ञेय का उद्धारण स्थिति को स्पष्ट करते हुए भविष्य के लिए दिशा बोधक भी है:—

“मिला बहुत कुछ :  
सब बेपेंदी का—

शिक्षा मिली — उसकी

नींव — भाषा नहीं मिली—

आजादी मिली — उसकी नींव — आत्म गौरव नहीं  
मिला —

राष्ट्रीयता मिली — उसकी नींव — ऐतिहासिक पहचान  
नहीं मिली—

शिक्षा और भाषा दोनों मिलने से आत्म गौरव का  
क्षरण हुआ और देश आत्मधिकार का शिकार हो गया।  
देश राष्ट्रभक्ति का संदर्भ ही खो बैठा।”

पत्रिका नहीं, वैचारिक आंदोलन

**सामयिक वार्ता**

**पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक  
बनाएं, मित्रों को उपहार दें**  
देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों को  
जानने—समझने और विश्लेषण में मददगार  
एक पत्रिका

# नर्मदा-क्षिप्रा जोड़ने की नादानी

रेहमत

नर्मदा का पानी क्षिप्रा में पाईप से डालने की योजना थुरु करके क्षिप्रा को सदानीरा बनाने के दावे किए जा रहे हैं। क्या पाईपलाईनों से नदियां जिंदा हो सकती हैं? इसका विशाल खर्च कौन उठाएगा? क्या किसान इतना महंगा पानी ले सकेंगे? पानी का एक हिस्सा तो कंपनियों को जाएगा। निमाड़ और मालवा में जल विवाद की शुरुआत भी हो सकती है।

इस आलेख में सेंड्रप, दिल्ली के हिमांशु ठक्कर की टिप्पणियों से मदद मिली है।  
मंथन अध्ययन केंद्र से जुड़े रेहमत पानी के निजीकरण के खिलाफ लगातार सक्रिय हैं।  
पता:  
मंथन अध्ययन केंद्र,  
दशहरा मैदान रोड,  
बड़वानी (म.प्र.)-  
451551  
फोन: 09300833001

पिछले दिनों मध्यप्रदेश सरकार द्वारा बहुप्रचारित नर्मदा-क्षिप्रा लिंक (पाईप लाईन) योजना का उद्घाटन किया गया है। चुनावी लाभ लेने के लिए तैयार की गई इस अव्यवहारिक योजना से सरकार ने एक नए जल विवाद की नींव भी रख दी है। साथ ही प्रदेश सरकार (आंखें मूंद लेने के लिए केन्द्र सरकार) का यह गैरकानूनी कृत्य सामने आया है कि इस योजना का न तो पर्यावरणीय प्रभाव आकलन करवाया गया है और न ही पर्यावरणीय मंजूरी लेना जरूरी समझा गया है।

मध्यप्रदेश सरकार के सूचना प्रकाशन विभाग की विज्ञप्ति के अनुसार योजना के घोषित लाभों में देवास और पीथमपुर के उद्योगों, देवास इंदौर सड़क पर बसे उपनगरों और 150 गांवों को पेयजल उपलब्ध करवाने के साथ ही सूख चुकी क्षिप्रा नदी को सदानीरा बनाना है। 5 क्यूमेक्स (5 हजार लीटर प्रति सेकण्ड या 3620 लाख लीटर प्रतिदिन) क्षमता वाली इस योजना के लाभों के बारे में बड़े-बड़े और अविश्वसनीय दावे किए जा रहे हैं। लगभग इंदौर जैसे एक शहर की पेयजल जरूरत के बराबर क्षमता वाली बिजली पर निर्भर इस योजना के दावों पर विश्वास करना मुश्किल है। यदि पाईप लाईनों से ही नदियां जिंदा हो जाती तो अब तक शायद ही देश की कोई नदी सूखी रहती।

इस योजना के लिए नर्मदा पर निर्माणाधीन ओंकारेश्वर परियोजना की नहरों से पानी लिफ्ट किया जाना है। नर्मदा परियोजना और इसके पानी के लिए दशकों से निमाड़ के किसानों को सपने दिखाए जा रहे हैं। लेकिन इससे पहले कि यह पानी निमाड़ के खेतों में पहुंच पाता, मालवा की नदियों को

जिंदा करने और वहां का जल संकट खत्म करने का शिगूफा छोड़ दिया गया है। केवल इतना ही नहीं क्षिप्रा नदी को कलकल छलछल बहाने का सपना (सपनों और सच्चाई में फर्क होता है) पूरा करने के पहले ही इस पाईप लाईन को इंदौर के निकट स्थित पीथमपुर औद्योगिक क्षेत्र की ओर मोड़ दिया गया है। 3620 लाख लीटर प्रतिदिन में से 900 का हिस्सा उद्योग हड़प जाएंगे। औद्योगिक जलप्रदाय हेतु मध्यप्रदेश औद्योगिक विकास निगम और दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारा परियोजना द्वारा एक अलग कंपनी (स्पेशन परपज वेहीकल) बनाई गई है। दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारा परियोजना द्वारा इस योजना में निवेश का अर्थ इस गलियारे के आसपास के क्षेत्रों में होने वाले औद्योगीकरण हेतु पानी की आपूर्ति सुनिश्चित करना है। उद्योगों के लिए सरकार ने पहले निमाड़ के लोगों को छला, बाद में मालवा के लोगों को छल रही है।

कभी मालवा क्षेत्र की जल समृद्धि को बयान करने वाली कहावत “पग-पग रोटी, डग-डग नीर” प्रचलित थी। लेकिन नब्बे के दशक की शुरुआत में मालवा में जल संकट की आहट सुनाई देने लगी थी। इसी समय देवास शहर में पेयजल का इतना भीषण संकट पैदा हुआ कि शहर के लिए पानी की विशेष रेलगाड़ियां चलानी पड़ी। जिले को कृत्रिम जल संकट में मॉडल बनाया गया। जंगल, खेत, खलिहान और घरों छतों से एक-एक बूंद पानी रोकने के सरकारी अभियान चलाए गए। देवास के जल संचय अभियान के आंकड़ों से कई अधिकारियों ने खुद को “भागीरथ” बताते हुए पुरस्कार और प्रशंसा

पाते हुए अपने कैरियर चमका लिए। लेकिन हर साल हजारों करोड़ रुपयों की जल संवर्धन योजनाओं से कहीं भूजल में बढ़ोत्तरी नहीं दिखाई दी और न ही पेयजल उपलब्धता में सुधार हुआ है? यदि देवास जिले में भी पिछले 2 दशकों से इतने बड़े जल संचय अभियान चलाए जा रहे हैं तो फिर यहां की नदियां क्यों सूखी हैं?

## उधार के पानी से खुशहाली

मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान ने 6 जुलाई 2012 को एक समारोह में दावा किया था कि उनके 7 वर्षों के कार्यकाल में 'जलाभिषेक अभियान' के तहत प्रदेश में 7 लाख से अधिक जल संरचनाएं बनाई गई हैं। यदि हम 1994 से 2004 के बीच के दिग्विजयसिंह के कार्यकाल के वाटरशेड मिशन को नजरअंदाज कर दें तो भी इस दावे के मुताबिक शिवराजसिंह के कार्यकाल में हर गांव में औसतन 20 से अधिक तालाब बनाए गए हैं। चूंकि मालवा में जल संकट है इसलिए इन 7 लाख तालाबों में से ज्यादातर मालवा में बने होंगे। इन जल संरचनाओं में जमा पानी कहां चला गया कि मालवा की एक के बाद दूसरी सारी नदियां सूखती जा रही हैं और मुख्यमंत्री को क्षिप्रा के साथ ही खान, गंभीर, चंबल, काली सिंध और पार्वती नदी को भी उधार के पानी से बारहमासी बनाने की

योजना बनानी पड़ रही है। मालवा क्षेत्र का समाज यदि अपने 'डग-डग नीर' को नहीं सहेज पाया और इस समृद्ध धरती को रेगिस्तान बनाने पर तुला है तो इस बात की क्या गारंटी है कि वह अनैतिक तरीके से मिले नर्मदा के पानी का सम्मान करेगा?

निमाड़ क्षेत्र के किसान मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय की इंदौर खंडपीठ के समक्ष इस योजना का संचालन और उद्घाटन रोकने की गुहार कर चुके हैं। किसानों का तर्क है कि निमाड़ में नहरों का कार्य रोककर पाईप लाईन का काम किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस पाईप लाईन योजना के लिए पैसा भी ऑंकारेश्वर नहर परियोजना के बजट से खर्च कर दिया गया है। नर्मदा

घाटी के विकास के लिए बनाया गया नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण अब मालवा क्षेत्र के विकास में जुट गया है। अभी तक यही समझा जाता रहा है कि नर्मदा योजनाओं से निमाड़ में समृद्धि आएगी, इसी आधार पर निमाड़ क्षेत्र के लोगों का बलिदान भी लिया गया। लेकिन, अब प्रस्तावित लाभ मृग मरीचिका प्रतीत होने लगे हैं। केवल इतना ही नहीं इससे मध्यप्रदेश के ही दो इलाकों के बीच नया जल विवाद खड़ा होने की आशंका है।

हाल ही में इस योजना के संबंध में धार्मिक विवाद भी शुरू हुए हैं। इस पाईप लाईन योजना को 'सिंहस्थ लिंक' का नाम दिया गया है। इसके माध्यम से सिंहस्थ के दौरान क्षिप्रा में जल उपलब्ध करवाया जाएगा। पहली आपत्ति नागा साधुओं की ओर से आई जिसमें कहा गया है कि नर्मदा नदी के चिरकुआंरी होने की मान्यता के कारण वे इस नदी में स्नान नहीं करते हैं। क्षिप्रा में नर्मदा का पानी मिल जाने के कारण उनके लिए परेशानी हो जाएगी। स्मरण रहे कुंभ और सिंहस्थ में पहला स्नान

*कभी मालवा क्षेत्र की जल समृद्धि को बयान करने वाली कहावत "पग-पग रोटी, डग-डग नीर" प्रचलित थी। लेकिन नब्बे के दशक की शुरुआत में मालवा में जल संकट की आहट सुनाई देने लगी थी। इसी समय देवास शहर में पेयजल का इतना भीषण संकट पैदा हुआ कि शहर के लिए पानी की विशेष रेलगाड़ियां चलानी पड़ी। जिले को कृत्रिम जल संकट में मॉडल बनाया गया।*

नागा साधुओं का ही होता है। दूसरी आपत्ति पायलट बाबा और कंप्यूटर बाबा जैसे कुछ साधुओं की ओर से आई है। इन साधुओं ने इस योजना को औचित्यहीन बताते हुए प्रदेश के 25 जिलों से होकर गुजरने वाली 'नर्मदा-क्षिप्रा लिंक तोड़ो' यात्रा प्रारंभ कर दी

है। यात्रा के दौरान इस बात का प्रचार किया जाएगा कि प्रदेश सरकार ने योजना के नाम पर जनता को मूर्ख बनाया है। यदि 500 करोड़ रुपए क्षिप्रा को पुनर्जीवित करने में खर्च किए जाते तो यह नदी, पर्यावरण और लोगों के हित में होता।

अपने देश में नदी जोड़ योजना पर लंबा विमर्श हो चुका है और विशेषज्ञों ने इस पर गंभीर सवाल उठाए हैं। इसके सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय दुष्प्रभावों के कारण इसे आगे नहीं बढ़ाया जा रहा है। लेकिन मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान क्षुद्र राजनैतिक लाभ के लिए इस बोटल में बंद जिन्न को फिर से आजाद कर रहे हैं। उनकी योजना में नर्मदा-

क्षिप्रा लिंक तो एक शुरुआत भर है। अक्टूबर 2012 को विश्व बैंक मुख्यालय में शिवराजसिंह चौहान द्वारा कर्ज की मांग करते हुए दिए गए प्रस्तुतिकरण के अनुसार सरकार की योजना 'नर्मदा-मालवा लिंक' का निर्माण करने की है जिसके तहत गंभीर, पार्वती, कालीसिंध नदियों को नर्मदा से जोड़ने की है। इस योजना से 10 शहरों और 3000 गांवों को पेयजल उपलब्ध करवाने के साथ 16.8 लाख हैक्टेयर में सिंचाई और 1000 मेगावाट बिजली उत्पादन का दावा किया गया है।

## पैसा कहाँ से आएगा

नर्मदा-क्षिप्रा लिंक के लिए वित्तीय व्यवस्था का खुलासा नहीं किया गया था। इस योजना के लिए तो त्वरित सिंचाई लाभ योजना के तहत ओंकारेश्वर परियोजना की नहरों के लिए केन्द्र से मिले धन का उपयोग कर लिया गया है। लेकिन नर्मदा-मालवा जोड़ योजना के अंतर्गत सभी योजनाओं को बाजार के सिद्धांतों से चलाया जाना है क्योंकि इसके लिए प्रदेश सरकार ने विश्व बैंक से कर्ज की मांग की है और विश्व बैंक की यही शर्त है। 27 सितंबर 2013 को जारी सैद्धांतिक सहमति में राज्य शासन ने स्पष्ट कर दिया है

कि योजना का संचालन-संधारण खर्च किसानों से वसूल किया जाना है। नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण के पिछले वर्ष के आंकलन के अनुसार नर्मदा-क्षिप्रा लिंक में प्रति हजार लीटर पानी पंप करने का बिजली खर्च ही 9 रुपए बैठता है। यदि प्रशासनिक एवं अन्य खर्च जोड़ दिए जाएं तो यह खर्च दुगुना हो जाता है। इंदौर शहर में 1978 से नर्मदा जल प्रदाय करने की योजना संचालित है। इसके अब तक 3 चरण हो चुके हैं। लेकिन किसी भी चरण में नगर निगम संचालन-संधारण खर्च वसूल नहीं पाया है। देवास औद्योगिक क्षेत्र हेतु प्रारंभ की गई नर्मदा योजना से पानी खरीदने हेतु नगर निगम सक्षम नहीं है। किसानों को तो फसलों के लिए

थोक पानी की जरूरत होती है। पीने और घरेलू उपयोग हेतु अल्प मात्रा में लगने वाले नर्मदा जल की कीमत चुकाना मुश्किल है तो फिर किसान इसकी कीमत कैसे चुका सकेंगे?

यदि वित्तीय और पर्यावरणीय चिंताओं को कुछ समय के लिए नजरअंदाज भी कर दें तो भी लाख टके का सवाल यह है कि क्षिप्रा लिंक के लिए ओंकारेश्वर बांध से, गंभीर के लिए महेश्वर बांध से और पार्वती एवं कालीसिंध नदियों के लिए इंदिरा सागर बांध से पानी लिया जाना है। उल्लेखनीय है कि नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण के फैसले के अनुसार इंदिरा सागर और ओंकारेश्वर परियोजनाओं के पानी के इस्तेमाल का निर्णय सरदार सरोवर रिजरवायर रेग्यूलेशन कमिटी करती

*नदी जोड़ परियोजना का उद्देश्य पानी की अधिकता वाले क्षेत्र से कमी वाले क्षेत्र में पानी पहुंचाना था। लेकिन शिवराजसिंह चौहान की नदी जोड़ योजना में उल्टी गंगा बहाई जा रही है। कम औसत वार्षिक वर्षा वाले निमाड़ क्षेत्र से अधिक वर्षा वाले मालवा क्षेत्र में पानी ले जाया जा रहा है। ऐसे में लाख टके का सवाल यह है कि खान, गंभीर, क्षिप्रा, चंबल, कालीसिंध, और पार्वती जैसी सदानीरा नदियों की दुर्दशा कर चुका मालवा का समाज नर्मदा के साथ कैसा सलूक करेगा? मालवा की नदियों की तरह जब नर्मदा सूख जाएगी तो नर्मदा को जीवित करने के लिए किस नदी का पानी लाया जाएगा?*

है। इस समिति में अकेला मध्यप्रदेश कोई निर्णय नहीं ले सकता क्योंकि इसमें मध्यप्रदेश के अलावा गुजरात, महाराष्ट्र एवं राजस्थान राज्य भी शामिल हैं। साथ ही इन बांधों के कमांड इलाकों में सिंचाई नेटवर्क का काम जारी है तथा पानी की जरूरत है। ऐसे में निमाड़ और मालवा के बीच जल विवाद पैदा होगा जो प्रदेश में सामाजिक असंतोष का कारण बनेगा।

नदी जोड़ परियोजना का उद्देश्य पानी की अधिकता वाले क्षेत्र से कमी वाले क्षेत्र में पानी पहुंचाना था। लेकिन शिवराजसिंह चौहान की नदी जोड़ योजना में उल्टी गंगा बहाई जा रही है। कम औसत वार्षिक वर्षा वाले निमाड़ क्षेत्र से अधिक वर्षा वाले मालवा क्षेत्र में पानी ले जाया जा रहा है। ऐसे में लाख टके का सवाल यह है कि खान, गंभीर, क्षिप्रा, चंबल, कालीसिंध, और पार्वती जैसी सदानीरा नदियों की दुर्दशा कर चुका मालवा का समाज नर्मदा के साथ कैसा सलूक करेगा? मालवा की नदियों की तरह जब नर्मदा सूख जाएगी तो नर्मदा को जीवित करने के लिए किस नदी का पानी लाया जाएगा?

# डॉक्टरी शिक्षा और ग्रामीण भारत

डॉ. अभिजीत गाडेवार

*एमबीबीएस के बाद पीजी करने का नियम बन गया है। लेकिन जो असली शिक्षा भारत के गांवों में होती है, उसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं है। एक नए-नए डाक्टर की कलम से रोमांचक अनुभव।*

*महाराष्ट्र निवासी डा गाडेवार ने एक साल बिलासपुर के 'जन स्वास्थ्य सहयोग' में काम किया। अब वे दिल्ली-राजहरा के शहीद अस्पताल से जुड़ने का विचार कर रहे हैं।*

abhijitgadewar  
@gmail.com

'मेडिकल शिक्षा' और 'ग्रामीण भारत' दोनों में आज छत्तीस का आंकड़ा है। सिर्फ 26 फीसदी डॉक्टर गांव में काम करते हैं जहां भारत की 73 फीसदी आबादी रहती है। मेडिकल कॉलेज से निकलकर यदि कोई नया डॉक्टर स्वेच्छ से गांव में काम करना चाहे तो लोग उसे बेवकूफ समझते हैं। उसे पचासों लोग सलाह देंगे कि वह ऐसा न करे। डॉक्टरी शिक्षा व्यवस्था पर सवाल उठाने के लिए शायद मैं सही व्यक्ति नहीं हूँ, पर ये आंकड़े गलत नहीं हैं। कहीं कुछ तो गलत जरूर है।

दो साल पहले मैंने एमबीबीएस की शिक्षा पूरी की। उसके तीन-चार महीने बाद मेडिकल कौंसिल ऑफ इंडिया का पंजीयन भी हो गया। कानूनी तौर पर मैं डॉक्टर तो बन गया था पर क्या मैं वही डॉक्टर था जिसकी समाज को जरूरत है? मैंने पढ़ाई तो की थी पर यह किताबी ज्ञान था। असली ज्ञान अभी मिला नहीं था। ऐसा माना जाता है कि अगर आप पीजी (स्नातकोत्तर) करते हैं तभी आपको पूरा ज्ञान मिल सकता है और आप एक परिपूर्ण और कामयाब डॉक्टर बनते हैं। मैं इन सब से सहमत नहीं था। मन में काफी सवाल थे। मैं चाहता था कि दो-तीन साल गांव में काम करूं, गांव की स्वास्थ्य समस्या क्या है, यह देखूं और अपनी समझ भी बढ़ाऊँ।

'जन स्वास्थ्य सहयोग' के बारे में मुझे पता लगा। छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले के गनियारी गांव में यह एक संस्था है जो ग्रामीण स्वास्थ्य में काम करती है। पढ़ाई पूरी होते ही तीन महीने बाद मैंने यहां काम शुरू कर दिया। मेरी असली शिक्षा तो यहां शुरू हुई।

मेडिकल कॉलेज में 'रोगों की रोकथाम

और सामाजिक स्वास्थ्य' (प्रिवेंटिव एंड सोशल मेडिसिन) एक ऐसा विषय है जिसे बेकार और बोरियत भरा माना जाता है। यहां आने के बाद मुझे पता चला कि 'सामाजिक स्वास्थ्य' असल में क्या है। गांव को समझकर उसके अनुरूप रोग निवारक उपाय सोचना और उसे लागू करना, हेरिसन पढ़ने से ज्यादा कठिन है। लोगों को बीमारी के बारे में जागृत करना एक चुनौती है। बीमारी के बारे में बड़ी किताबें पढ़ने के लिए हैं परंतु टीबी सिर्फ डॉट्स देने से दूर नहीं होती, कुपोषण सिर्फ प्रोटीन या कैलोरी की कमी नहीं, मलेरिया सिर्फ आर्टिसूनेट गोली देने से नहीं थमता। इन सबका मूल कहीं और है। मैंने देखा कि सामाजिक विषमता, गरीबी, भूख और अन्याय ये सब बीमारियों की जड़ में हैं। सिर्फ बीमारी का इलाज करने से उसका मूल ठीक नहीं किया जा सकता। ये सब मैंने जन स्वास्थ्य सहयोग में सीखा, न कि कॉलेज में।

## 29 किलो की महिला

जब मैंने पहली बार 29 किलोग्राम वजन की टीबीग्रस्त महिला को देखा तो मैं उसे देखता रह गया। मैंने अपने आपको उसकी जगह रखने की कल्पना करने की कोशिश की, लेकिन नहीं कर सका। विविध खाद्य पदार्थों में कैलोरी की मात्रा के बारे में तो मैंने पढ़ा था पर भूख को पहली बार देख रहा था। एक सवाल ने मुझे झकझोर कर रख दिया था। एक 29 किग्रा की महिला, जिसे उसके तीन बच्चों समेत पति ने छोड़ दिया था, सिर्फ इसलिए कि उसको टीबी है। इसमें गलती किसकी है? उस महिला का पोषण कम होने के लिए कौन जिम्मेदार है? टीबी समाज में एक 'कलंक' है ऐसा पढ़ने में

काफी आसान है पर जब उसकी अनुभूति होती है तो सारी पढ़ाई धरी की धरी रह जाती है। आप उसकी बीमारी फिलहाल के लिए दूर कर सकते हैं, पर उसे वह फिर से ना हो उसके लिए एक डॉक्टर कुछ नहीं कर सकता। डॉक्टर की पढ़ाई उसे उस लायक बनाती ही नहीं है कि वह इन असली चुनौतियों पर काम कर सके। टीबी के इलाज के बाद दस-बारह किलो वजन कैसे बढ़ाना, यह किसी किताब में नहीं लिखा होता है, और न ही किसी कॉलेज में पढ़ाया जाता है और जब वजन बढ़ जाता है, तब समझ में आता है कि वह कितनी भूखी रहती थी।

हमारी शिक्षा व्यवस्था संवेदना नहीं बढ़ाती, जो कि एक डॉक्टर के लिए अपने मरीजों को ठीक करने के लिए बहुत जरूरी है। गांव के लोगों के प्रति आस्था और प्रेम नहीं पढ़ाती। उसके लिए आपको गांव में जाना पड़ेगा, वहां रहना पड़ेगा।

‘मेडिकल जांच’ एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका मरीज के आर्थिक शोषण के लिए बहुत इस्तेमाल किया जाता है। मेडिकल कॉलेज में यह नहीं पढ़ाया जाता कि विवेकपूर्ण और किफायती जांच कैसी हो सकती है? लिवर फंक्शन टेस्ट, किडनी फंक्शन टेस्ट और ऐसे ढेर सारे टेस्ट लिख दिए जाते हैं जो इनका दुरुपयोग है। कई बार इनमें से कुछ जांचें जरूरी ही नहीं होती है। कम से कम जांचें कर के हम मरीज का काफी पैसा बचा सकते हैं, यह यहां आकर अनुभव हुआ। दवाईयों का खर्चा भी कमरतोड़ होता है। जेनेरिक दवाईयों से 50 फीसदी से भी ज्यादा खर्चा हम बचा सकते हैं। हमें कॉलेज में जेनेरिक दवाईयों के बारे में बताया जाता है, लेकिन हम ब्रांडेड दवाईयां लिखते हैं। कॉलेज में हम आपस में यही बात करते हैं कि कौन सा एमआर (मेडिकल रिप्रेजेंटेटिव) ज्यादा पैसा या गिफ्ट दे रहा है। आज की प्राइवेट दवाई कंपनियों के आकर्षक उपहारों के चलते डॉक्टरों ने अपने आप को बेच दिया है। मैंने यह सीखा कि इलाज की लागत कम करना एक मरीज के इलाज के लिए कितना महत्वपूर्ण है।

मेरे एक दोस्त से, जो पीजी कर रहा है, मेरी बात हो रही थी। वह गांव के लोगों को दोष दे रहा था कि वे समय पर नहीं आते। गांव की हालत जाने बगैर मैं पीजी कर रहा

होता तो मैं भी यही कहता। एक अस्पताल में बैठकर आप ग्रामीणों की कठिनाइयों का अंदाज नहीं लगा सकते हैं। एक दिहाड़ी का मजदूर अपने और अपने परिवार के लिए पैसे की व्यवस्था किए बगैर नहीं निकल सकता है, उसका समय पर न आ पाना स्वाभाविक है। एक बड़े अस्पताल में सात दिन भरती रहने का मतलब उसके लिए बहुत कुछ गंवाना है। मैं यह जानता हूँ क्योंकि मैंने यह देखना चाहा है।

बहुत सारे भारतीय गांवों में आज भी प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं भी नहीं हैं। अस्पतालों तक पहुंचने में बहुत दिक्कतें हैं। कई लोग अस्पताल आते-आते मर जाते हैं। कईयों की हालत खराब हो जाती है क्योंकि सड़कें बहुत खराब हैं, गाड़ियां खराब हालत में होती हैं और एम्बुलेंस उपलब्ध नहीं होती है। एक बार मैं हमारे मोबाइल क्लिनिक से अस्पताल वापस लौट रहा था तो मेरे साथ एक आठ महीने की गर्भवती महिला भी उसमें आ रही थी। खराब सड़क के कारण उसको बहुत तकलीफ हो रही थी। अब मैं क्लिनिक में किसी गर्भवती महिला को देखता हूँ तो कल्पना करता हूँ कि वह भी काफी कष्ट में आई होगी और मुझे उससे सहानुभूति रहती है।



दो-तीन साल पहले इंटरनशिप के दौरान विद्यार्थी पीजी के बारे में तैयारी करते थे। पर आजकल तो एमबीबीएस के दूसरे वर्ष से वे तैयारी करने लगते हैं। यदि आपने पीजी नहीं की है तो आप नाकाबिल माने जाएंगे। जब मैं स्कूल के आखिरी वर्ष में था, हम

कहते थे, ‘एमबीबीएस में प्रवेश मिल जाए तो मेरी जिंदगी व्यवस्थित हो जाएगी’। एमबीबीएस के दौरान हम कहते हैं, ‘पीजी के बाद मैं सेटल हो जाऊंगा’। अब पीजी के दौरान कुछ लोग कहते हैं, ‘केवल पीजी करने से कोई मतलब नहीं है, आपको सुपरस्पेशलिटी हासिल करना होगा।’ मैं चकरा जाता हूँ। हमारी क्षमता हम बनाएंगे या डिग्रियों से हमारी योग्यता तय होगी? क्या हम लालची बन रहे हैं? जब विद्यार्थी केवल एमबीबीएस होते हैं तो उनमें कुछ हद तक गांव में काम करने की रुचि होती है, लेकिन पीजी होते ही उनके रुझान में अचानक बदलाव आ जाता है। मैं पीजी के खिलाफ नहीं हूँ, लेकिन भारत जैसे देश में ग्रामीण अनुभव के बगैर पीजी करने का कोई मतलब मुझे नहीं लगता।

# ‘स्वच्छ और सीमित बाजार संभव’

राजेंद्र चौधरी

सुनील जी के ‘स्वच्छ और मानवीय पूंजीवाद संभव नहीं’ के संदर्भ में मैं यह कहना चाहूंगा कि पूंजीवाद और वैश्वीकरण या बाजारवाद, जहां पूंजी और बाजार को सर्वगुण संपन्न पूजनीय, सर्वव्यापी और प्रश्नों से परे माना जाता है, की सुनील जी द्वारा की गई आलोचना सटीक है, और ऐसे पूंजीवाद या बाजारवाद का तो विरोध होना ही चाहिए। परंतु यह सावधानी भी बरतनी चाहिए कि पूंजीवाद का विरोध बाजार और व्यापार के पूर्ण निषेध का रूप न ले ले। कहीं-कहीं पूंजीवाद की आलोचना उत्पादन व्यवस्था से निजी संपत्ति के पूरी तरह खात्मे की ध्वनि देती है। क्या (उत्पादन में) निजी संपत्ति का खात्मा करना आवश्यक है? क्या यह वांछनीय है? क्या निजी संपत्ति के खात्मे से शोषण और गैरबराबरी खत्म हो जाती है? क्या शोषण बिना बाजार और निजी संपत्ति के नहीं हो सकता?

अगर दूसरे विश्व युद्ध के बाद से लेकर अब तक के वैश्विक परिदृश्य पर नजर डालें तो पाएंगे कि जिन अर्थव्यवस्थाओं को हम पूंजीवादी मानते रहे हैं उन में काफी फर्क रहा है। उन सब के अंदर राज्य और निजी संपत्ति के संबंध हमेशा और हर जगह एक जैसे नहीं रहे हैं। न ही एक समय और काल में विभिन्न ‘पूंजीवादी’ देशों के अंदर और न ही एक देश में अलग अलग समय और काल में। इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक रूप में ‘पूंजीवाद’ के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं। राज्य और बाजार, निजी संपत्ति और सार्वजनिक संपत्ति के बीच कई तरह के संबंध और संतुलन रहे हैं और इस अंतर का लोगों के जीवन पर महत्वपूर्ण असर रहा है। इस अंतर को नजरअंदाज करना उचित नहीं होगा। कई मायनों में पूंजीवाद का जो अमरीकी रूप है वह रूप यूरोप में न है और न रहा है। यूरोप के अंदर भी नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड आदि देशों की स्थिति अलग है। ध्यान रहे नार्वे में बच्चे के लालन पालन में कोताही के चलते एक भारतीय दंपति को बच्चे से ही वंचित हो जाना पड़ा। गलत हो या ठीक, ये ‘बाजारवाद’ या ‘पूंजीवाद’ तो नहीं ही इंगित करता।

इसलिए, पूंजीवाद को परिभाषित करने की

आवश्यकता है ताकि पूंजीवाद और वैश्वीकरण की वर्तमान धारा का विरोध, बाजार और व्यापार का विरोध न प्रतीत हो। इसके साथ-साथ वैकल्पिक अर्थव्यवस्था को भी परिभाषित करने की आवश्यकता है। कम से कम एक अच्छे खासे हिस्से में पूंजीवाद या बाजारवाद का समर्थन इन की गुणवत्ता पर आधारित न होकर ‘विकल्पहीनता’ की मान्यता पर आधारित है। इसलिए विकल्प को परिभाषित करना, और इस रूप में परिभाषित करना कि यह सोवियत विघटन को समायोजित कर सके, आवश्यक है। ‘समाजवाद पूंजीवाद का विकल्प है’ कहने से काम नहीं चलेगा क्योंकि समाजवाद के नाम पर भी अलग-अलग तरह के प्रयोग हुए हैं। केवल यह बताने से भी काम नहीं चलेगा कि समाजवाद में क्या गुण होंगे, यह भी बताने कि आवश्यकता है कि ये गुण कैसे प्राप्त होंगे, ढांचा कैसा होगा, निर्णय कैसे होंगे। ये सवाल पूछने पर कई लोग यह जवाब देते हैं कि समाजवाद का कोई ब्ल्यू प्रिंट या बना बनाया स्वरूप नहीं हो सकता। यह तो जिस समाज में, जिन परिस्थितियों में बनता है उस से तय होगा। यह एक हद तक सही भी है। कई चीजें बनाने की प्रक्रिया में बदलती हैं, परंतु जैसे मकान बनाने से पहले उसका न्यूनतम नक्शा होना जरूरी है, उसी तरह से बिना वैकल्पिक अर्थव्यवस्था को विस्तार से परिभाषित किए ‘पूंजीवाद’ की आलोचना से काम नहीं चलेगा। खास तौर से सोवियत यूनियन के विघटन के बाद के दौर में, यह आवश्यक हो गया है। आज पूंजीवाद के समर्थन से ज्यादा गहरे सवालिया निशान विकल्प की संभावना पर हैं।

मेरा यह मानना है कि उत्पादन में निजी, सार्वजनिक, सहकारी, सामुदायिक हर तरह की संपत्ति की भूमिका हो सकती है। हर तरह की संपत्ति के अपने-अपने गुण-दोष हैं और भिन्न-भिन्न तरह के उत्पादन की अपनी-अपनी जरूरतें हो सकती हैं जो अलग अलग के संपत्ति संबंधों द्वारा पूरी हो सकती हैं। बाल काटने की व्यवस्था और कंप्यूटर निर्माण की व्यवस्था एक जैसी होनी आवश्यक नहीं है। जैसे विकेन्द्रीकरण के संदर्भ में यह माना जाता है कि कई मुद्दे ऐसे होंगे जो गांव स्तर पर छोड़े जा सकते हैं क्योंकि इन का



असर गांव तक ही सीमित रहता है, तो कई मुद्दे कई गांवों के समूह के अधिकार क्षेत्र में आएंगे, क्योंकि ये इन सब को प्रभावित करते हैं, इत्यादि। इसी प्रकार कई आर्थिक मुद्दे भी इतने अल्पकालिक या सीमित प्रभाव के होते हैं कि उन्हें पूरी तरह बाजार पर छोड़ा जा सकता है, और कई मुद्दे इतने ज्यादा व्यापक या दीर्घकालिक प्रभाव के कि उन्हें पूरी तरह सामाजिक नियंत्रण में रखना ही उपयुक्त होगा, कहीं कहीं तो वैश्विक सामाजिक नियंत्रण में रखना ही उपयुक्त होगा।

इस पर कई लोग कहेंगे कि यह तो मिश्रित अर्थव्यवस्था हो गई और भारत में 1991 से पहले की अर्थव्यवस्था मिश्रित ही थी, और यह असफल साबित हो चुकी है। सुनील जी भी कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को 1991 से पहले असफलताओं का हवाला दे कर नकार देते हैं। इस पर मेरी दो आपत्तियां हैं। 1991 से पहले की मिश्रित अर्थव्यवस्था में अनेकों खामियां थीं और उस में सुधार की आवश्यकता भी थी, परंतु यह कहना कि उसकी जनपक्षीय नजरिए से उपलब्धियां नगण्य थी, सही नहीं है। कई मसलों में आज जनपक्षीय ताकतें 1991 के पहले की व्यवस्था लागू करने की ही मांग कर रही हैं। दूसरी ओर मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वाभाविक अर्थ ही यह है कि ये मिश्रण कई तरह से हो सकता है। इस में 'पूंजीवाद' के तत्व हावी हो सकते तो 'समाजवादी' तत्व भी हावी हो सकते हैं। इसलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था को न तो 1991 के पहले के अनुभव के आधार पर नकारा जा सकता है और न सैद्धांतिक आधार पर। न ही इस को वैश्विक अनुभव के आधार पर यह कह के नकारा जा सकता है कि यूरोप में कल्याणकारी राज्य तीसरी दुनिया के शोषण के चलते ही संभव हो पाया। अगर ऐसा होता तो अमरीका में कल्याणकारी राज्य सब से प्रभावी होता क्योंकि तीसरी दुनिया के शोषण में तो अमरीका ही सबसे आगे रहा है। जबकि हुआ बिलकुल इस के उलटा। जिन देशों में कल्याणकारी राज्य व्यवस्था सबसे ज्यादा व्यापक थी, उन का तीसरी दुनिया पर नियंत्रण इतना व्यापक नहीं था।

विकल्प के तौर पर सुनील जी 'भीतर देखू विकास नीति' ही सुझाते हैं, जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भारत सहित बहुत सारे देशों में अपनाई गई और जापान सहित अनेक देशों में शायद अब भी अपनाई जा रही है, यानी 'भीतर देखू विकास नीति' या कल्याणकारी राज्य पूंजीवाद में भी संभव है। सुनील जी स्वयं मानते हैं कि 'मुक्त बाजार और पूर्ण प्रतिस्पर्धा' मात्र भ्रम हैं जो केवल अर्थशास्त्र की किताबों में पाए जाते हैं। इसका स्वाभाविक अर्थ है कि राज्य/समाज

का बाजार में हमेशा दखल रहता है, रहा है। दखल की प्रकृति और मात्रा बदलती रहती है। यानी कि अर्थव्यवस्था हमेशा मिश्रित ही रही है, इसका स्वरूप व्यापक समाज की प्रकृति पर निर्भर रहा है और इसे सिद्धांत परिभाषित नहीं माना जा सकता है। यह मानना कि राज्य या तो कल्याणकारी ही हो सकता है या वो पूंजीवाद का दलाल ही हो सकता है, जैसा कि सुनील जी मानते हैं, गलत है। राज्य को पूंजीवाद के दलाल के रूप में ही परिभाषित करना, जैसा बहुत से लोग मानते हैं, गलत है। यह तो सही है कि राज्य समाज में ताकतवर तबकों का प्रतिनिधित्व करता है, परंतु उतना ही सही यह भी है कि आधुनिक लोकतंत्र में अगर यह केवल पूंजीवादी ताकतों का प्रतिनिधित्व करता तो अलग से राज्य नाम की संस्था की आवश्यकता ही कहां थी? राज्य समाज को प्रभावित भी करता है और इसे प्रतिबिंबित भी करता है। अगर राजे-रजवाड़े भी पूरी तरह जनभावनाओं की अनदेखी नहीं कर पाते थे, तो आधुनिक राज्य कैसे केवल पूंजीपति वर्ग के नुमांइदे के तौर पर काम कर सकता है?

ऐसा ही सवाल पूंजी संचय का है। पूंजी संचय मानवता के विकास के लिए आवश्यक है परंतु यह आवश्यक नहीं कि यह शोषण आधारित ही हो। वर्तमान उत्पादन में से कितने का उपभोग करना है और कितने का संचय और निवेश करना है, यह प्रश्न हर समाज और समय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न होता है। इसका सीधा साधा उदाहरण है कितने गेहूं को खाना है और कितने को बीज के तौर पर सुरक्षित रखना है, यह प्रश्न खेती की शुरुआत से महत्वपूर्ण रहा है। इसलिए संचय को शोषण पर आधारित मानना भूल होगी। जाहिर है संचय की मात्रा और स्वरूप अलग-अलग हो सकता है, परंतु न तो संचय को नकारा जा सकता है, न ही इसे शोषण आधारित माना जा सकता है। स्पष्टतया ज्यादा संचित श्रम/मशीनरी के प्रयोग से उत्पादित वस्तु की कीमत कम संचित श्रम/मशीनरी के प्रयोग से उत्पादित वस्तु से ज्यादा होगी भले ही दोनों में तत्कालिक श्रम की मात्रा बराबर हो। संचय को पूंजी तक सीमित करना सही नहीं है।

शायद आज पूंजीवाद और समाजवाद से भी बड़ा प्रश्न विकास की अवधारणा का है, जीवन शैली का है। यह ऐसा प्रश्न है जो तथाकथित तौर पर विकसित और विकासशील दोनों तरह के देशों को जोड़ सकता है। एक क्षण के लिए भूल जाएं कि अमरीकी विकास बाकी दुनिया में क्या तबाही कर रहा है, यह भी भूल जाएं यह अमरीकी समाज के हाशिये पर खड़े लोगों के साथ क्या कर रहा है।

यह सब भूल कर केवल यह पूछें कि ये समाज के साधन-संपन्न तबकों के जीवन में कितनी खुशियां और परिपूर्णता ला रहा है? भारत के उदाहरण से देखें तो पाते हैं कि ये तबके तो देश छोड़कर जाने को तैयार बैठे हैं। इससे ही पता लगता है कि इन के जीवन में कितनी संतुष्टि और परिपूर्णता का अहसास है और ये विकास कितना टिकाऊ है, यह प्रश्न तो अलग रह गया। विकास की अवधारणा और जीवन शैली के प्रश्न, शायद आज के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। सुनील जी ने इसे अपने लेख के अंत में छुआ भर है। इस नजरिये से 'पूँजीवादी' विकास की आलोचना आमतौर पर साधु संत

या बूढ़े बुजुर्ग किया करते हैं। गांधी इसका अपवाद हैं। आवश्यकता इस प्रश्न को समेटते हुए, आधुनिक अर्थतंत्र की समग्र आलोचना की है। सुनील जी के लेख में तीसरे रास्ते की खोज की आवश्यकता को तो रेखांकित किया गया है, यानी कि विकल्प का स्वरूप खुला है, परंतु उनकी पूँजीवाद की आलोचना में भी यह खुलापन/नयापन होता तो और अच्छा होता। उन की पूँजीवाद, और राज्य के साथ इसके संबंध की समझ पारंपरिक है।

(rajindera@gmail.com)

## पूँजीवाद का मतलब बाजार नहीं, खास तरह का विकास

सुनील

राजेंद्र जी को धन्यवाद। उनकी आलोचना से बात को और स्पष्ट करने का मौका मिला है। दरअसल, उनके और मेरे विचारों में ज्यादा फरक नहीं है। कुछ गलतफहमियों को दूर कर दिया जाए तो वे वही बात कह रहे हैं जो मैं कहना चाहता हूँ।

उनकी आलोचना मुख्य रूप से इस प्रकार है-

1. निजी संपत्ति और बाजार को खतम करना न तो संभव है और न इसकी जरूरत है।
2. पूँजीवाद को और इसके विकल्प को परिभाषित नहीं किया गया है।
3. पूँजीवाद के कई रूप रहे हैं और सबको खारिज करना उचित नहीं है। संपत्ति और बाजार के भी कई रूप हो सकते हैं और अलग-अलग रूपों की जगह हो सकती है।
4. मिश्रित अर्थव्यवस्था और कल्याणकारी राज्य को खारिज करना उचित नहीं है। राज्य हमेशा पूँजीवाद का दलाल नहीं होता है।
5. पूँजी संचय जरूरी है। जरूरी नहीं कि वह शोषण पर आधारित हो।
6. पूँजीवाद और समाजवाद से बड़ा प्रश्न विकास की अवधारणा और जीवन शैली का है।

पहली बात से मैं सहमत हूँ। अपने वक्तव्य में मैंने कहीं पर भी बाजार और निजी संपत्ति को पूरी तरह खतम करने की वकालत नहीं की है। दरअसल राजेंद्र जी पूँजीवाद

और बाजार को समानार्थी करके देख रहे हैं। आम तौर पर ऐसा ही समझा जाता है। यह गलती पुरानी मार्क्सवादी धारणाओं और सोवियत-चीनी क्रांतियों के कारण होती है जहां निजी संपत्ति व बाजार को खतम करके मान लिया गया कि पूँजीवाद खतम हो गया है। सच तो यह है कि पूँजीवाद आने के पहले भी बाजार था और एक वैकल्पिक व्यवस्था में भी रहेगा।

यह जरूरी है कि पूँजीवाद के साथ ही बाजार वैश्विक हुआ है और बाजार को उन्मुक्त करने का सिद्धांत आया है। बाजार का दायरा भी बढ़ता जा रहा है। जो चीजें पहले बाजार की हद में नहीं थी या बहुत कम थी जैसे शिक्षा, सेहत, पानी, जंगल, मानव श्रम आदि वे भी बिक्री का माल (मार्क्स के शब्दों में कमोडिटी) बनती जा रही हैं।

वैश्विक बाजार, उन्मुक्त बाजार, बाजार की संप्रभुता और सर्वोच्चता, हर जगह बाजार की घुसपैठ आदि को पूँजीवाद से जोड़ा जा सकता है। इसी को बाजारवाद भी कहा जाता है। बाजारवाद और बाजार में फरक करना जरूरी है। जैसे ब्राह्मणवाद का विरोध करने का मतलब ब्राह्मणों का विरोध नहीं है, वैसे ही बाजारवाद के विरोध का मतलब यह नहीं है कि बाजार को पूरी तरह खतम करने की बात की जा रही है। यह जरूर है कि एक वैकल्पिक व्यवस्था में बाजार को काफी हद तक समाज के हित में नियंत्रित और सीमित करने की जरूरत होगी।

## पूँजीवाद के पांच तत्व

तब पूँजीवाद का केंद्रीय तत्व क्या है ? या राजेंद्र जी के शब्दों में पूँजीवाद को हम कैसे परिभाषित करते हैं ? पूँजीवाद का जैसा विकास हुआ है, उससे हम उसकी कुछ विशेषताओं को नोट कर सकते हैं। **एक**, अंतहीन उपभोग और लालसाओं को दैवीय गुण का रूप देकर बढ़ाते जाना और उस पर आधारित जीवन-शैली यह कभी भी सबको उपलब्ध नहीं हो सकती, लेकिन सबको ललचाती है। इसको आप उपभोक्ता संस्कृति भी कह सकते हैं। इसमें मांग व जरूरतों को कृत्रिम रूप से पैदा भी किया जाता है। उसमें विज्ञापन की बड़ी भूमिका है। **दो**, अंतहीन पूँजी संचय या निवेश जो श्रम और प्राकृतिक संसाधनों के स्थानीय और वैश्विक शोषण/दोहन से संभव होता है। **तीन**, इन दोनों के अनुरूप तकनालाजी का विकास, जिसमें बड़े-बड़े कारखानों में एक जगह बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। **चार**, इसी के साथ बड़े पूँजीपतियों और बाद में बड़ी कंपनियों का विकास। धन-संपत्ति-आय का जबरदस्त केंद्रीकरण और अभूतपूर्व (बहुआयामी) गैरबराबरी। **पांच**, उपरोक्त प्रवृत्तियों को संभव बनाने के लिए बाजार का विस्तार और उसे ज्यादा से ज्यादा अनियंत्रित बनाना। उपभोग की तरह मुनाफे को भी महिमामंडित कर मुनाफाखोरी को बढ़ाना।

ये सारी प्रवृत्तियां आपस में अभिन्न रूप से जुड़ी हैं और पूरक हैं। कह सकते हैं कि वे पूँजीवाद के आक्टोपस के पांच पंजे हैं जिन्होंने मानवता को बुरी तरह जकड़ रखा है। इन्हें अलग-अलग देखना, या इनमें कुछ को चुनना और बाकी से मुक्ति पाने की कोशिश करना एक हद से आगे संभव नहीं हो पाएगा। ऐसी इच्छा इतिहास-विरुद्ध भी होगी। इसीलिए मानवीय और स्वच्छ पूँजीवाद संभव नहीं है।

इसी को विकास के खास मॉडल के रूप में भी देखा जा सकता है। राजेंद्र जी सही कह रहे हैं कि मूल प्रश्न विकास की अवधारणा का है, बाजार या निजी संपत्ति का नहीं। लेकिन मौजूदा विकास अवधारणा भी पूँजीवाद से जुड़ी है और उसी की उपज है। पूँजीवाद के फ्रेमवर्क (ऊपर बताई गई पांच विशेषताओं वाले ढांचे) में वैकल्पिक विकास संभव नहीं हो पाएगा। यह भी समझ लेना चाहिए कि मौजूदा पूँजीवादी विकास पद्धति में गहरे निहित स्वार्थ हैं और इसको सुधारने का काम केवल सद्विच्छाओं, संतों के उपदेशों या कुछ परोपकारी कामों से नहीं हो पाएगा। उनका अपना महत्व होगा, लेकिन इस से

पीड़ित साधारण जनता के लगातार संघर्षों और चेतना से ही व्यवस्था-परिवर्तन हो पाएगा।

## पूँजीवाद स्वायत्त या परजीवी

मार्क्सवादी और वामपंथी विचार में एक महत्वपूर्ण बहस चलती रही है। वह यह कि किसी एक देश में पूँजीवाद का स्वतंत्र और स्वायत्त विकास हो सकता है या नहीं ? या फिर पूँजीवादी विकास अनिवार्य रूप से बाहर के बाजार, श्रम व कच्चा माल के दोहन पर आधारित होगा। पहले को मानने वाले आज भी काफी मार्क्सवादी विद्वान हैं जिनमें पाल स्वीजी प्रमुख हैं। लेकिन रोजा लक्जमबर्ग के समय से ही इसे चुनौती मिल रही है जिसे 'एक्युमुलेशन ऑफ केपिटल' नामक किताब में काफी विस्तार से उदाहरणों के साथ प्रतिपादित किया था कि पूँजीवाद के विकास के लिए एक गैर-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का शोषण जरूरी है। फिर ए गुंदरफ्रेक नामक लातीनी अमरीकी अर्थशास्त्री ने कहा कि 'विकास' और 'अविकास' (या पिछड़ापन) एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और एक दूसरे के कारण-परिणाम हैं। भारतीय समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया ने अपने निबंध 'अर्थशास्त्र मार्क्स के बाद' में भी इसी तरह कहा कि पूँजीवाद और साम्राज्यवाद जुड़वां और अभिन्न हैं।

यदि पूँजीवाद की यह व्याख्या सही है तो फिर अलग-अलग देशों में पूँजीवाद के अलग-अलग रूप नहीं दिखेंगे। एक ही वैश्विक प्रक्रिया के हिस्से मालूम होंगे, कुछ स्थानीय और ऐतिहासिक भिन्नताओं के साथ। मोटे तौर पर दुनिया के दो हिस्से हैं। एक संपन्न या 'विकसित' देश जो पूँजीवाद की वैश्विक प्रक्रिया से लाभांशित हुए हैं। दूसरे गरीब या 'अविकसित' देश जो इसके शिकार हुए हैं। कुछ देश बीच में हैं और हर देश के अंदर फिर विभाजन हैं, लेकिन मोटे तौर पर यह विभाजन देखा जा सकता है।

इसी विश्लेषण से यह बात निकलती है कि भारत जैसे दुनिया के गरीब देशों के पास पूँजीवादी विकास (जैसा कि यूरोप-अमरीका में हुआ) और उससे संपन्नता हासिल करने का विकल्प ही नहीं है, क्योंकि उनके पास दूसरों के औपनिवेशिक या नव-औपनिवेशिक शोषण की सुविधा नहीं है। इसलिए भारत जैसे देशों में पूँजीवाद का विकास काफी अधूरा, अधकचरा या अलग ढंग से हुआ है। औद्योगिक क्रांति का हम आज भी इंतजार कर

रहे हैं और देश की सात फीसदी से भी कम श्रमशक्ति संगठित क्षेत्र में लग पाई है। भारत में 1991 के पहले ही व्यवस्था को 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' कहने से काफी भ्रम पैदा होता है। ऐसा लगता है कि हमने पूंजीवाद और समाजवाद के बीच कोई संतुलन करने की कोशिश की थी। लेकिन सच तो यह है कि विकास की हमारी अवधारणा और मॉडल मूलतः पूंजीवादी ही थे। ज्यादा से ज्यादा इसे 'राज्य प्रेरित पूंजीवाद' कहा जा सकता है। आज के जबरदस्त निजीकरण और कंपनी राज की तुलना में वह भला दिखाई देता है। लेकिन उसमें बुनियादी अंतर्विरोध थे, भारतीय अवाम के कष्टों को वह दूर नहीं कर पाया और कई तरह के संकट पैदा करता रहा। इन्हीं असफलताओं व संकटों ने एक तरह से भारत में निजीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण और मुक्त बाजार के पक्ष में जमीन तैयार की। इसीलिए 1991 के पहले की व्यवस्था हमारा विकल्प नहीं हो सकती।

मैं कल्याणकारी राज्य के विरोध में नहीं हूँ। सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि वैश्विक पूंजीवाद के मौजूदा स्वरूप में वह न तो संभव है और (विकास की बुनियादी दृष्टि बदले बगैर) न उससे समस्याएं हल होंगी। इसके लिए ज्यादा बुनियादी स्तर पर ज्यादा बड़े बदलावों की जरूरत होगी, ऊपर बताई पूंजीवाद की पांचों प्रवृत्तियों को उलटने की जरूरत होगी। इसी को मैं समाजवाद या तीसरा रास्ता कहता हूँ। आप चाहे तो कुछ और कह सकते हैं। यदि मूल बात पर सहमति है तो नामकरण या शब्दों की बहस में उलझने की जरूरत नहीं है। यदि यह सहमति है तो फिर संपत्ति व बाजार के स्वरूपों और राज्य की भूमिका के बारे में काफी विविधता, खुलेपन और प्रयोगों की गुंजाईश हो सकती है।

यह भी गौरतलब है कि सोशल डेमोक्रेसी के प्रयोग ज्यादातर यूरोप में ही चल पाए हैं और अब वहां भी संकट में हैं। यूरोप को ऐतिहासिक रूप से साम्राज्यवाद-पूंजीवाद से पैदा हुई संपन्नता का जो फायदा मिला है, उसकी इसमें भूमिका रही है। इसके कारण वहां पूंजीवाद और लोकतंत्र दोनों के चेहरे बेहतर दिखाई देते हैं और भारत जैसे गरीब देशों में कुरूप दिखाई देते हैं। इसलिए हमें ज्यादा बुनियादी और क्रांतिकारी विकल्प की जरूरत है।

इसका मतलब यह भी नहीं है कि ये प्रयोग हमारे लिए पूरी अप्रासंगिक हैं और उनसे कुछ भी सीखने को नहीं है। पूंजीवाद की सीमाओं और उसके मूल चरित्र की

समझ साफ हो और विकल्प की मोटी दिशा व रूपरेखा (आपके शब्दों में, मकान का नक्शा) तय हो तो फिर नए समाज के निर्माण में कई जगह से काफी कुछ ग्रहण किया जा सकता है। फिनलैंड की शिक्षा व्यवस्था, न्यूबा की स्वास्थ्य व्यवस्था और जैविक खेती, डेनमार्क का साईकिल प्रेम, स्विटजरलैंड की विकेंद्रित शासन व्यवस्था, फ्रांस का राष्ट्रभाषा प्रेम, ब्राजील की जन कल्याणकारी योजनाएं, स्थानीय शासन और जनभागीदारी के वेनेजुएला के प्रयोग, एक्वादोर की प्रकृति के अधिकारों की संवैधानिक मान्यता, उरुग्वे के राष्ट्रपति की सादगी, भूटान की सकल राष्ट्रीय उत्पाद की जगह 'सकल राष्ट्रीय खुशी' की अवधारणा, बांग्लादेश का दवाई बाजार पर नियंत्रण आदि बहुत सारे सकारात्मक प्रयोगों से भी हम सीख सकते हैं और अपने व दूसरों के बुरे अनुभवों व असफलताओं से भी सबक ले सकते हैं। यह जरूर है कि परिस्थितियां व संदर्भ अलग होने से उन्हें ज्यों का त्यों लागू करना संभव नहीं होगा। भारत का आजादी का आंदोलन और नवजागरण का काल भी हमारे लिए मार्गदर्शक का काम कर सकता है।

पूंजी संचय की बात मैं पूंजीवाद के संदर्भ में कर रहा था। गैर-पूंजीवादी पूंजी संचय में ज्यादा समस्याएं नहीं हैं।

पूंजीवाद और समाजवाद को परिभाषित न करने की शिकायत के बारे में यही कह सकता हूँ कि एक संपादकीय लेख की सीमा होती है। फिर काफी बातें भारतीय समाजवादी चिंतन में पहले ही साफ हो चुकी हैं। राममनोहर लोहिया, किशन पटनायक और सच्चिदानंद सिन्हा के लेखन में पूंजीवादी के उपरोक्त विश्लेषण और समाजवाद की भारतीय संकल्पना को काफी हद तक साफ किया गया है। इन चिंतकों ने स्पष्ट किया है कि संपत्ति की मिल्कियत या बाजार नहीं, विकास की सोच व दिशा पूंजीवाद-समाजवाद के लिए ज्यादा अहम मसला है। सामयिक वार्ता में इस से संबंधित कई लेख निकलते रहे हैं। सच्चिदानंद सिन्हा की 'सोशलजिन्म: ए मेनिफेस्टो फॉर सरवाईल' (मराल प्रकाशन, मुज्जफरपुर, 1999) एक अच्छी किताब है। 1995 में बना समाजवादी जन परिषद का 'समाजवादी नजरिया' भी कई पहलुओं को समेटते हुए एक अच्छा दस्तावेज है। नए संदर्भों में यह चर्चा-बहस आगे बढ़ना चाहिए। राजेंद्र जी ने इस बहस को नए सिरे से खोलकर हम सबका उपकार किया है।

# मुझ पर भरोसा रखना

सच्चिदानंद सिन्हा

समीक्षित पुस्तक जीवन भर उपेक्षित और मरणोपरांत शायद सबसे चर्चित कलाकार विंसेंट वान गॉग का अपने भाई थियो को लिखे पत्रों का संकलन है। भाई थियो कला पारखी और चित्रों का विक्रेता है। परिस्थितिवश, थियो सदा आर्थिक तंगी में रह रहे भाई विंसेंट के खर्च का बोझ भी उठाता है— कूची, कैनवास और रंगों की आपूर्ति के साथ-साथ उसके जीवन की दूसरी जरूरतों की पूर्ति भी मूलतः थियो ही करता है। ऐसे संबंध में एक तनाव निहित है। जिसके ऊपर भाई के प्रति गहरा प्रेम और उसकी प्रतिभा पर भरोसा भारी पड़ता है। विंसेंट वान गॉग की चिट्ठियों में बार-बार यह आश्वासन— “मुझ पर भरोसा रखना”, जो पुस्तक का शीर्षक भी है, त्रासद स्थितियों से जूझते कलाकार के आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति भी है और भाई के भरोसे को बनाए रखने की आरजू भी, दोनों भाइयों के जीवन का अंत भी बड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

28 जुलाई, 1890 सुबह (पत्नी जो के नाम थियो का पत्र)

“आज सुबह ऑवेर से एक डच पेंटर गैसे का संदेश लेकर आया था जिसमें विंसेंट के विषय में बुरी खबर थी और मुझे तुरंत बुलवाया था। मैं खड़े-खड़े ही चला आया। यहां उसे उम्मीद से बेहतर पाया। ब्यौरों में नहीं जाऊंगा। हालात बहुत उदास करने वाले हैं। तुम इतना जान लो प्रिय जो कि अभी उसकी जिंदगी खतरे में हैं।”

29 जुलाई, 1890 को पेरिस से थियो का पत्र

“आज वह चला गया। उसके आखिरी शब्द थे: काश मैं यूं ही बस्स चला जाता और उसकी अंतिम इच्छा पूरी हुई। कुछ ही पलों में सब कुछ शेष हो गया। अंततः उसे वह सुकून और शांति मिल गई जो उसे इस धरती पर कभी नहीं मिली....।”

“अब वह गेहूँ के खेतों के बीच एक धूप जगे टुकड़े में सो रहा है।” विंसेंट अपने अड़तीसवें वर्ष में ही दुनिया छोड़ चला।

“इसके छह महीने बाद 25 जनवरी 1891 को थियो भी अपने भाई के पास चला गया। अब वह भी उस धूप जगे

टुकड़े में विंसेंट के पास आराम कर रहा है।”

6 मई 1876 से शुरू हुए पत्राचार का सिलसिला, जिसमें लगभग सभी पत्र विंसेंट द्वारा लिखे गए हैं, थियो के 29 जुलाई, 1890 के जो नाम लिखे गए पत्र से खतम हो जाता है, लेकिन इस क्रम में पत्रों के माध्यम से कला और कलाकार की जिंदगी में झांकने का अनूठा अवसर मिलता है।

ये पत्र थियो की पत्नी जोआना वान गॉग के प्रयासों से 1914 में प्रकाशित हुए थे जिन्हें पुस्तक की अनुवादक और संपादक राजुला शाह ने ‘सीजन ग्रे’ से प्रकाशित किया है। पुस्तक की एक विशेषता है कि पढ़ने में कहीं यह बोध नहीं होता है कि भाषा अनुवाद की है। एक के बाद एक पत्रों को पढ़ने से विंसेंट वान गॉग का पूरा जीवन वृत वैसे ही उभर कर आता है जैसे कैनवास पर एक के बाद एक चित्रकार की कूची के स्पर्श से तस्वीर उभर आती है।

विंसेंट के जीवन के माध्यम से उस समय के यूरोप के कला जगत का भी थोड़ा आभास हो जाता है। विंसेंट वान गॉग क्लोद मोवे, स्पूरा, साइनेक आदि ने उन कलाकारों का समकालीन था जिन्हें प्रभाववादी (इंप्रेसनिस्ट) कहा जाता है। वे मूलतः रंग के माध्यम से प्रकाश की स्थितियों से दृश्य जगत के बदलते बिंबों को प्रस्तुत करने का प्रयास करते थे। विंसेंट वान गॉग ने उनके रंग विधान को आत्मसात करने की कोशिश की लेकिन वह उनके प्रयासों से परे जा उन वस्तुओं के सार को प्रस्तुत करना चाहता है जिन्हें वह चित्रित करता है। वह रंगों के संयोजन की वैसी आकृतियां पैदा करने की कोशिश करता है जिनका निजी अस्तित्व है। इसीलिए उसके द्वारा चित्रित साधारण किसान और कामगार अपनी गरिमा और विशिष्टता की ओर आकृष्ट करते हैं। उसके सूर्यमुखी या साइप्रस अपने दहकते रंग से उद्वेलित करने वाले मनोवेग पैदा करते हैं। विंसेंट वान गॉग खेतों के फैले विस्तार, उसमें काम करते किसान, खदान में काम करते मजदूर आदि का संवेदशील चित्र प्रस्तुत कर सकता है क्योंकि उसमें उनके प्रति एक स्वाभाविक लगाव है। उनके जीवन की गहराई को जिसे वह रेखांकनों में अभिव्यक्त करता था शब्दों संप्रेषित करना संभव नहीं था। इसलिए वह अपने

पत्रों के साथ प्रायः भाई को अपनी ड्राइंग भी भेजता था जिनमें काफी पत्रों के साथ पुस्तक में प्रस्तुत हैं।

इन पत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय के कलाकारों को अपने समय के साहित्य में भी गहरी रूचि थी और वे ऐसा अनुभव करते थे कि कलाकार और साहित्यकार समान रूप से जीवन के सत्य को उजागर करने के प्रयास में लगे हैं। अक्सर पत्रों में एमिल जोला वालजाक, डिकेंस, विक्टर ह्यूगो के कामों का उल्लेख रहता है। इस तरह चित्रकार के जीवन के साथ उसके समकालीन सारे साहित्यिक और कला के संसार की झांकी हम इन पत्रों में पाते हैं। अनुवादक

व संपादक कला और साहित्य के साथ-साथ सिनेमा संसार से भी जुड़ी हैं। इसी से पत्रों को सारे परिवेश से जोड़कर इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि चर्चित घटनाओं से रूबरू होने का भाव पैदा होता है। पुस्तक का कलाकारों के लिए महत्व तो है ही यह हिंदी साहित्य के लिए भी एक उपलब्धि है जहां कला संबंधी ऐसी पुस्तकें दुर्लभ हैं।

मुझ पर भरोसा रखना

विंसेंट वान गॉग के पत्र भाई थियों के नाम

अनवाद व संपादन- राजुला शाह

प्रकाशक-सीजन ग्रे

## वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वा नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लॉक, खूंटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 252 ई, पाकेट डी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनार्थ प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला होशंगाबाद, म.प्र. फोन 09425408801
- तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कांप्लेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर- 452003 फोन-09826011413

# कोलकाता का साईकिल आंदोलन

## बलाई चक्रवर्ती

पिछले साल कोलकाता की सड़कों में साईकिलों व हाथ डेलों पर पाबंदी लगा दी गई। नतीजतन वहां एक जोरदार साईकिल आंदोलन खड़ा हो गया है। इसकी मांग है कि पाबंदी साईकिलों पर नहीं, मोटरकारों पर लगे। कई बुनियादी सवाल इसने उठाए हैं। 23 फरवरी को हुई दिनभर की जोरदार साईकिल रैली की रपट उसमें शामिल हुए एक कार्यकर्ता की कलम से

कोलकाता के सामाजिक कार्यकर्ता बलाई चक्रवर्ती मनोचिकित्सा के क्षेत्र में काम करते हैं।

फोन:

09433679001

03325227980

कोलकाता में 'साईकिल चालान, साईकिल चलते दीन' (साईकिल चलाइए, साईकिल चलाने दें) एक नारा है। शहर में मोटरों की बाढ़ ने पेट्रोल व डीजल के धुएं से पर्यावरण को दूषित करने के साथ जीवन दूभर कर डाला। पैदल चलने वाले लोगों को मोटरों की 'अंतहीन' कतार के गुजर जाने की 'अंतहीन' प्रतीक्षा करने के बाद सड़क पार करने का जो जैसा-तैसा मौका मिलता है, उसमें क्षत-विक्षत न होने की शत-प्रतिशत गारंटी नहीं होती, मामूली खरोंच तो रोजमर्रा की बात है। ऐसे में मोटरकारों के चलन को समाप्त कर साईकिल के चलन को बढ़ावा देना आवश्यक मालूम पड़ता है। पेरिस जैसे फैशनेबल और आधुनिक शहर में तो मोटर के बजाए साईकिल से यात्रा करने को प्रोत्साहित करने के लिए जगह-जगह साईकिल के अड्डे में साईकिल जमा कर सकते हैं। लेकिन हमारे यहां तो गंगा उलटी बह रही है। कोलकाता में पिछले साल 29 मई 2013 को पुलिस कमिश्नर ने एक अधिसूचना जारी कर 174 सड़कों पर साईकिल चलाने पर प्रतिबंध लगा दिया।

प्रतिबंध वाली यह अधिसूचना पश्चिम बंगाल ट्रैफिक नियमन अधिनियम, 1965 के तहत जारी की गई। इसमें 174 सड़कों में से चालीस सड़कों पर चौबीस घंटे, एक सौ दस पर सुबह 7 बजे से रात 11 बजे तक और बाकी चौबीस पर दिन के अधिकांश समय मंथर गति से बिना पेट्रोल-डीजल के चलने वाले वाहनों-साईकिल, साईकिल वैन, हाथ से चलाए जाने वाले टैले आदि के चलाए जाने पर रोक लगाई गई। यहां ध्यान देने की बात यह है कि पश्चिम बंगाल ट्रैफिक नियमन अधिनियम, 1965 की धारा 2 और 4 के मुताबिक यदि

सरकार को छोड़ कर कोई दूसरा (यहां पुलिस कमिश्नर) पाबंदी का आदेश देता है तो वह (आदेश) दो महीने तक ही बहाल रह सकता है और इसे आगे बहाल रखने के लिए सरकार की स्वीकृति-अनुमोदन आवश्यक है। इसका सीधा-सादा मतलब यह हुआ कि सरकार की स्वीकृति के बिना पाबंदी की मोहलत सिर्फ दो महीने की थी क्योंकि पाबंदी दो महीने बाद स्वतः समाप्त होती थी।

पुलिस कमिश्नर की सूचना के बाद पुलिस ने साईकिल से अखबार बांटनेवालों, घर-घर दूध पहुंचाने वालों और पाव रोटी ढोनेवाले साईकिल वैनों के चालकों और साईकिल से काम के स्थान पर जाने वालों को सताना शुरू किया। पुलिस साईकिल के पहियों की हवा निकाल देती, उन्हें तोड़-फोड़ देती, चालकों पर जुर्माना (वसूली) लगा देती। एक गनीमत यह थी कि अखबार बांटने वाले, दूध पहुंचाने वाले, साईकिल वैन चालकों में एक बड़ी संख्या सुबह आठ बजे तक अपना काम निपटा देती है और बहुत सी सड़कों पर ट्रैफिक पुलिस के सिपाहियों की ड्यूटी इतनी सुबह नहीं लगती सो वे पुलिस की 'किरपा' से बच जाते हैं।

साईकिल चालकों को पुलिस द्वारा सताए जाने का विरोध काफी देर से शुरू हुआ। इसका एक बड़ा कारण तो यह था कि साईकिल चालक का कोई संगठन नहीं था और दूसरे, वे काफी हद तक पुलिस के व्यवहार के उसी तरह अभ्यस्त हो चले थे, जिस तरह हॉकर हो गए हैं। बहरहाल, 4 दिसंबर 2013 को पर्यावरण रक्षा समिति के असीम बराल ने सूचना के अधिकार के तहत पूछा कि क्या सरकार ने 29 मई, 2013 को पुलिस कमिश्नर द्वारा कोलकाता की 174

सड़कों पर साईकिल चलाने पर प्रतिबंध संबंधी अधिसूचना को बहाल रखने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। 17 दिसंबर को कलकत्ता साईकिल आरोही अधिकार व जीविका रक्षा कमेटी ने एक जुलूस निकाल कर पुलिस कमिश्नर द्वारा जारी अधिसूचना को रद्द करने की मांग की। इस जुलूस के नौ दिन बाद 26 दिसंबर को पश्चिम बंगाल सरकार के परिवहन विभाग ने असीम बराल को सूचित किया कि कोलकाता के पुलिस कमिश्नर ने 16 जुलाई 2013 को अधिसूचना को बहाल रखने की स्वीकृति प्रदान करने के लिए अनुरोध किया; लेकिन उस अधिसूचना को अभी तक परिवहन विभाग ने स्वीकृति प्रदान नहीं की है।

सबसे ज्यादा अचरज की बात तो यह है कि, जिस पाबंदी को स्वतः समाप्त हो जाना था, उसके तहत साईकिल चालकों को सताया जाता रहा और पुलिस द्वारा उनसे 'जुर्माना' वसूल किया जाता रहा। एक मजे की बात यह है कि न 1965 के अधिनियम और ना ही उसके तहत मई, 2013 को जारी की गई पुलिस कमिश्नर की अधिसूचना में प्रतिबंध को न मानने वालों के खिलाफ किसी सजा का प्रावधान है। लेकिन पुलिस का 'सजा' देना और सताना जारी रहा। पुलिस जुल्म के खिलाफ 23 फरवरी, 2014 को कोलकाता के पच्चीस



संगठनों ने कोलकाता में एक चक्राकार साईकिल रैली का आयोजन किया। इस रैली के आयोजकों में कोलकाता साईकिल समाज, युवा भारत, पीडीएसएफ, एनएपीएम, मंथन, कलकत्ता साईकिल आरोही अधिकार व जीविका रक्षा कमेटी, असंगठित श्रमिक संग्रामी मंच, हॉकर संग्राम समिति जैसे संगठनों सहित सत्रह संगठन शामिल थे।

यह रैली सुबह कोलकाता के दक्षिण-पश्चिमी इलाके के तारतल्ला से शुरू हो कर शहर का चक्कर लगा कर शाम तारतल्ला में ही समाप्त हुई। रैली के लिए तारतल्ला को चुनने के पीछे जीविका-निर्वाह के लिए रोज साईकिल चला कर काम पर जाने वाले विश्वजीत मंडल के तारतल्ला में एक मोटर कार द्वारा कुचल कर मारे जाने की घटना थी।

इस रैली ने घंटों शहर का चक्कर लगा कर अपनी यात्रा पूरी की। जो लोग सुबह 5-30 बजे से ही रैली में शामिल होने वाले थे उनमें तारतल्ला के बाहर रहने वाले लोग 22

फरवरी की रात तारतल्ला आ गए थे। एक व्यक्ति तो कोलकाता से प्रायः 80-90 किलोमीटर दूर शांतिपुर से आया था।

रैली में लगभग डेढ़ सौ लोगों ने भाग लिया। भाग लेने वाले सभी लोगों के पास सरकारी परिवहन विभाग द्वारा जनहित याचिका के जवाब में भेजे गए पत्र की प्रतिलिपि थी ताकि रोकने पर पुलिस को बताया जा सके कि साईकिल चलाने पर कोई पाबंदी नहीं रह गई है। रैली में शामिल साईकिल आरोहियों ने अपने शरीर पर 'साईकिल चलानेवालों के खिलाफ पुलिस जुल्म बंद करो', 'मोटर कारों से होने वाले प्रदूषण को समाप्त किया जाए' आदि नारों की तख्तियां लगा रखी थीं।

मैं दोपहर एक बजे एक पड़ाव से रैली में शामिल हुआ। हमारे साथ रैली में एक मेटाडोर गाड़ी चल रही थी, जिसमें साईकिल-मरम्मत का सामान और हिंदी व बांग्ला में छपा परचा था। रास्ते भर परचा बांटा गया।

रैली को ठीक ताल-मेल के अभाव में एक-दो जगह निर्धारित मार्ग बदलना पड़ा। पुलिस ने सिर्फ भवानीपुर थाने के सामने रैली को रोका और आयोजकों से अनुरोध किया कि वे हाजरा रोड तक (अध फर्लांग से भी कम दूरी) पैदल जाएं। यह अनुरोध मान कर रैली हाजरा रोड तक पैदल गई। पुलिस को यह शक था कि रैली कहीं मुख्यमंत्री ममता बनर्जी के घर (जो भवानीपुर हाजरा

रोड मोड़ पार करने पर आता है) की ओर खाना न हो।

रैली में खटकने वाली दो बातों का जिक्र करना चाहिए। मेटाडोर गाड़ी में पानी के दो ड्रम रखे जा सकते थे लेकिन किसी को यह याद नहीं रहा, लिहाजा कुछ लोगों ने पानी की बोतल खरीद कर अपनी प्यास मिटाई। पानी खरीदना पाप सरीखा मालूम पड़ता है। दूसरे, एक पड़ाव पर भोजन के लिए रैली के लोग रुके तो उन्हें भोजन थरमाकोल की थाली में परसा गया। पर्यावरण की रक्षा करने की हम बात करें और प्लास्टिक की बोतल और थरमाकोल की थाली व्यवहार में लाएं, यह अनुचित है।

रैली में भाग लेने वालों में कई लोग ऐसे भी थे जो साईकिल से घर-घर जा कर ट्यूशन करते हैं। बेरोजगारी से जूझने के लिए लोग हर तरह के प्रयत्न करते हैं, साईकिल ऐसे प्रयत्नों में सहायक है पर मोटर वाले, जिनका देश में राज है, सड़क पर साईकिल को देखना ही नहीं चाहते। रैली



में भाग लेने से मुझे व्यक्तिगत फायदा यह हुआ कि मुख्य रास्तों पर साईकिल चलाने के बारे में मन में जो डर था, वह दूर हुआ। मैं अब साईकिल से अपने दफ्तर जाता हूँ। इसमें पचास मिनट लगते हैं। बस से जाता था तो घर से दफ्तर पहुंचने तक एक घंटा दस मिनट का समय लगता था और आने-जाने पर चौदह रुपए खर्च होते थे।

रैली का एक नतीजा यह हुआ है कि 174 सड़कों पर साईकिल चलाने कल पाबंदी को हटा कर 62 सड़कों तक सीमित कर दिया गया है। अखबार वालों ने, जिनकी विटैज (पुरानी) कार रैलियों में ज्यादा दिलचस्पी है, जब साईकिल रैली के आयोजकों से यह कहा कि पाबंदी का 62 सड़कों तक सीमित होना आपकी सफलता का द्योतक है तो आयोजकों का जवाब था कि सफलता नहीं, विफलता का, क्योंकि सरकारी स्वीकृति के बिना पाबंदी 174 सड़कों से हट गई थी अब वह नए आदेश के तहत 62 सड़कों पर लागू

हो गई है। कोलकाता साईकिल समाज ने अन्य संगठनों को साथ लेकर साईकिल चलाने पर लगाई गई इस पाबंदी को हटाने के लिए अपने आंदोलन को आम चुनावों के बाद तेज करने का निर्णय किया है। तेज करने के दौरान पाबंदी वाली सड़कों पर साईकिल चला कर विरोध करने और गिरफ्तारी देने की बात भी सोची जा रही है। 2014 के लोकसभा चुनाव के उम्मीदवारों को पत्र लिखा गया है कि वे सड़कों पर निर्बाध साईकिल चलाने के अधिकार की रक्षा करने की मांग करें। आंदोलन के सिलसिले में पाबंदी वाली सड़कों को चिन्हित कर कोलकाता शहर का एक नक्शा बनाया जा रहा है। मोटर-कारों पर पाबंदी लगाने की मांग के समर्थन में उनसे (मोटर-कारों से) होने वाले नुकसान के बारे में तथ्यपरक जानकारी वाली पुस्तिकाएं प्रकाशित करने की भी योजना है।

## साईकिल चलाइए, स्वस्थ रहिए

साईकिल प्रेमियों ने परिवहन मंत्री और श्रम मंत्री को सूचित किया है कि पुलिस कमिश्नर के आदेश को सरकार ने स्वीकृति प्रदान नहीं की है लिहाजा कोलकाता की किसी भी सड़क पर साईकिल चलाने की पाबंदी नहीं है लेकिन पुलिस साईकिल चालकों को रास्ते में फर्जी कागज दे कर 100 से 200 रुपए तक वसूल करती है। बार-बार याद दिलाए जाने पर भी सड़कों से 'नो साईकिलिंग' के बोर्ड हटाए नहीं गए हैं। जहां साईकिल गैरेज थे उन्हें प्राइवेट मोटर-कारों और मोटर-साईकिलों को रखने के लिए हथिया लिया गया है। पिछले चार सालों में मोटर गाड़ियों और बसों द्वारा साईकिल चालकों को घायल करने और कुचलने की घटनाएं चार गुना बढ़ी हैं। प्राइवेट मोटर गाड़ियों की संख्या भयानक रूप से बढ़ती जा रही है। मुख्य सड़कों पर पार्किंग (ठहरने) की अनुमति न होने के कारण संकरी गलियों में प्राइवेट मोटर कारें घंटों खड़ी रहती हैं, जिससे गलियों के बाशिंदों को परेशानी होती है। मोटर गाड़ियों की वजह से शहर के लोगों के फेफड़े बेहाल हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने घोषणा की है कि प्रदूषण के कारण फेफड़े का कैंसर भयावह रूप से बढ़ रहा है। सबसे अधिक नुकसान तो बच्चों का हो रहा है, अमीरों के बच्चे भी नुकसान झेल रहे हैं। मोटरकार

कोलकाता की एक बड़ी और भयावह समस्या है। इस समस्या को साईकिल की सवारी को बढ़ावा दे कर हल किया जा सकता है।

पिछले दस-पंद्रह सालों से हॉलैंड, जर्मनी और फ्रांस जैसे देशों में साईकिल की सवारी को प्रदूषण से मुक्ति के एक उपाय के रूप में प्रोत्साहित किया जा रहा है। हमारे देश में राष्ट्रीय परिवहन नीति में भी साईकिल, रिक्शों और ठेलों को प्रोत्साहित करने की बात लिखी गई है लेकिन हो उलटा रहा है। मोटर-कारों के जहर से हम अपने बच्चों के स्वास्थ्य को खतरे में डाल रहे हैं। “(अब) उठ खड़े होने का, आवाज बुलंद करने का समय आ गया है। कोलकाता साईकिलोन्मुख हो। हॉलैंड के राष्ट्र प्रधान साईकिल से संसद जाते हैं। हम भी अपने कार्य स्थल पर साईकिल से जाएं। मोटर कारों की संख्या को नियंत्रित किया जाए ताकि बच्चे और बूढ़े सभी बेखौफ सड़कों पर चलें। साईकिलों, रिक्शों और ठेलों के लिए सड़कों के लिए अलग रास्ते (लेन) बनाए जाएं। आज हम सड़क पर इसलिए उतरे हैं कि हम सारी सड़कों पर साईकिल चलाने का अधिकार चाहते हैं। साईकिल चालकों पर जुल्म-जुर्माना अब बरदाश्त नहीं किया जाएगा। साईकिल चलाइए, अपने को स्वास्थ्यवान बनाइए।”

# प्रवासी मजदूरों के हाथ काटती व्यवस्था

## पीयूसीएल, ओड़िशा

कुछ समय पहले एक श्रमिक ठेकेदार द्वारा ओड़िशा के कालाहांडी जिले के दो प्रवासी मजदूरों के हाथ काटने की लोमहर्षक खबर आई थी। हाथ कटे दोनों मजदूरों के चित्र समाचार पत्रों और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में देख कर काफी लोग विचलित हुए। पीयूसीएल, ओड़िशा का एक जांचदल पूरे मामले की जानकारी लेने और इसकी तह में जाने के मकसद से वहां गया।

संक्षिप्त में यह घटना इस प्रकार है। नीलांबर धंगदामाझी कालाहांडी जिले के जयपटना प्रखंड के नुआगुडा गांव का एक आदिवासी है। दियालु नियाल उसी प्रखंड के एक और गांव पिपलगुडा का रहने वाला दलित है। दिसंबर के पहले सप्ताह में ठेकेदार इन दोनों को आंध्र प्रदेश में ईंट के भट्टों पर काम करने के लिए ले जा रहा था। कुल बारह मजदूर इस समूह का हिस्सा थे। रास्ते में स्थानीय श्रम ठेकेदार के साथ अग्रिम भुगतान और कुछ अन्य मुद्दों को लेकर विवाद होने पर इन दो को छोड़कर बाकी मजदूर भाग निकले। बाकी मजदूरों के भाग जाने के बाद श्रम ठेकेदार नीलांबर धंगदामाझी के परिवार को धमकी देने लगा कि अगर पूरे समूह को अग्रिम के तौर पर दिए गए लगभग दो लाख रूपए वापिस नहीं किए गए तो वह इन दोनों को मार डालेगा। परिजनों ने इस बारे में 13 दिसंबर 2013 को कालाहांडी जिले के एसपी और जिला श्रम अधिकारी को लिखित में सूचना दी और सुरक्षा की गुहार की। परंतु फिर भी दोनों मजदूरों की हथेलियों को 15 दिसंबर की रात को काट दिया गया और मजदूरों को बलांगीर जिले के सिंधकेला प्रखंड के जंगल में फेंक दिया गया। 16 दिसंबर की सुबह कुछ स्थानीय लोगों ने इन्हें देखा और भवानी पटना जिला अस्पताल में भिजवा दिया।

इस घटना के उजागर होने के बाद कई ऐसे और मामले सामने आए। मीडिया में खबर के आते ही राज्य के श्रममंत्री ने दोनों पीड़ितों को दो-दो लाख रूपए की अनुग्रह राशि देने की और अपराधियों को कानून के अनुसार दंडित करने की घोषणा की। जिला पुलिस ने एक सप्ताह के भीतर सात लोगों को गिरफ्तार भी कर लिया। राज्य और राष्ट्रीय

मानवाधिकार आयोग तथा भारत के सुप्रीम कोर्ट सहित अन्य सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं ने भी इस घटना को नोटिस लिया। लेकिन सवाल यह है कि क्या इस सब से ठेकेदारों और बिचौलियों के हाथों विभिन्न प्रकार के अमानवीय व्यवहार सहने वाले, शोषण से पीड़ित नीलांबर धंगदागदा मांझी और दियाआलु नियानाइल जैसे लाखों मजदूरों के जीवन में क्या इस सब से कोई सुधार आएगा? नीचे दिए विवरण से इस की कोई आशा नहीं दिखाई देती।

इस इलाके की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि है और यह काफी हद तक वर्षा पर निर्भर है। 2009 में प्रकाशित सरकारी आंकड़ों के अनुसार कालाहांडी जिले में, खरीफ में कुल बोये क्षेत्र का 54.81 फीसदी और रबी का 38.94 फीसदी क्षेत्र ही सिंचित है। कामगारों का 79.95 फीसदी कृषि में लगा हुआ है। इनके बीच भी, बाकी देश की तरह, भूमि वितरण असमान है। सीमांत और छोटी जोतों का हिस्सा संख्या में 75.87 फीसदी परंतु इनके अधीन जोत क्षेत्र का मात्र 40.98 फीसदी ही है। दूसरी ओर, मध्यम और बड़ी जोत की संख्या मात्र 7.61 फीसदी है परंतु उनके अधीन जोत क्षेत्र का 30.91 फीसदी हिस्सा है। आबादी का एक बड़ा हिस्सा तो भूमिहीन ही है। कुल कामगारों में कृषि मजदूरों का अनुपात कालाहांडी में 50.32 फीसदी है और ये आम तौर पर भूमिहीन ही होते हैं। नीलांबर धंगदामाझी सीमांत किसान हैं तो दियालु नियाल भूमिहीन। दोनों वर्गों के पास मानसून बरसात और कटाई के मौसम के बाद काम की तलाश में पलायन ही एक मात्र रास्ता बचता है।

वैसे तो मजदूरों का पलायन और प्रवासी मजदूरों की दुर्दशा राष्ट्रव्यापी है परंतु ओड़िशा और खास तौर पर कालाहांडी क्षेत्र की बात करें तो सरकारी दस्तावेजों के अनुसार यहां से बड़े पैमाने पर पलायन 1965-66 के सूखे के बाद शुरू हुआ। यह इतना बड़ा व्यापक था कि ओड़िशा की सरकार ने 1970 में ही ठेका श्रम (विनियमन और उन्मूलन) कानून लागू कर दिया था। परंतु यह राज्य स्तरीय कानून था जिस पर अन्य राज्यों की सरकारें कार्रवाई करने के लिए बाध्य नहीं थी। इसके बाद 1979 में केन्द्रीय सरकार

ने “अंतरराज्यीय प्रवासी कामगार (रोजगार और काम की शर्तों का विनियमन) कानून” लागू कर दिया। इस कानून में बुनियादी परिकल्पना यह है कि प्रवासी मजदूर लाइसेंस प्राप्त श्रम ठेकेदार के माध्यम से ही दूसरे राज्यों में जाएंगे और वह ही इनके हितों की रक्षा करेगा। परंतु वास्तविकता यह है कि अधिकांश मजदूरों को गैर-पंजीकृत ठेकेदारों के माध्यम से ही काम मिलता है। इसलिए यह कानून ऐसे मजदूरों के हितों की रक्षा करने में असफल हुआ है (वैसे तो फैक्टरी मजदूरों के लिए बने कानूनों की भी खुले आम अवेहलना होती है)।

इसके अलावा, जब-जब ओडिशा में होने वाले शोषण या भुखमरी या बच्चे को बेचने की खबरें राष्ट्रीय मीडिया में छईं और तत्कालीन प्रधानमंत्री ने क्षेत्र का दौरा किया है, तब तब कोई एक नई योजना हालात सुधारने के लिए लागू हुई। इंदिरा गांधी ने 1960 के दशक में, राजीव गांधी ने 1980 और पी.वी. नरसिंम्हा राव ने नब्बे 1990 के दशक में इस क्षेत्र का दौरा किया। तब से राज्य और केन्द्र सरकार, दोनों की ढेर सारी योजनाएं- (संशोधित लंबी अवधि की कार्ययोजना), (बीजू कृषक विकास योजना), (पश्चिमी ओडिशा ग्रामीण आजीविका कार्यक्रम), (ओडिशा आदिवासी सशक्तिकरण और आजीविका कार्यक्रम), (पश्चिमी ओडिशा विकास परिषद आदि) इस क्षेत्र से भूख और गरीबी खत्म करने के लिए लागू की गई। फिर 2005 में केन्द्र सरकार पूरे भारत से ग्रामीण गरीबी को खत्म करने के लिए बहुप्रचारित महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा) ले आई। इस के तहत निर्धारित न्यूनतम कानूनी मजदूरी पर शारीरिक श्रम करने को तैयार किसी भी ग्रामीण परिवार को मांगने पर सौ दिनों के रोजगार की गारंटी दी गई है। सवाल उठता है फिर क्यों मजदूर अपना घर-बार छोड़कर प्रवास करने को मजबूर होते हैं?

बाकी योजनाएं सफल हुईं होती तो मनरेगा लाने की जरूरत ही नहीं आती। वर्तमान में मनरेगा ही रोजगार उपलब्ध करवाने की सबसे बड़ी योजना है। परंतु इन दोनों मजदूरों के गांवों में जाने पर पता चला कि दिआलु नाइल के गांव पिपलगुडा में दियालु नियाल सहित किसी भी दलित परिवार का मनरेगा के तहत जॉब कार्ड ही नहीं बना था। इस घटना के बाद, पिछली तारीख में, दियालु नियाल का जॉब कार्ड बनाया गया था। नीलांबर धंगदामाझी नीलांबर धंगदा माझी के गांव नुआगुडा के ही और उसी के साथ प्रवास पर जाने वाले समूह में शामिल जया परभू और उसकी पत्नी के पास

न तो जॉब कार्ड था और न गरीबी रेखा के नीचे का बीपीएल कार्ड। इस आदिवासी परिवार को गरीबी रेखा से ऊपर का एपीएल कार्ड जारी किया गया है। पीयूसीएल की रपट में नाम सहित और ऐसे कई उदाहरण दिए गए हैं।

हालांकि, जिनके जॉब कार्ड बने हुए हैं, उनकी स्थिति भी कोई बेहतर नहीं है। सुकन्द धंगदा धंगदामाझी ने बताया कि दो साल पहले की मजदूरी अब तक नहीं मिली है। दूसरी ओर 2013 में जबकि उन्होंने मनरेगा के तहत काम किया ही नहीं, तब उन की डाकघर पासबुक में 3024 रु जमा कर के निकलवा लिए गए। एक गैर-सरकारी संगठन पर्यावरण और खाद्य सुरक्षा केन्द्र द्वारा दायर जनहित याचिका पर सुप्रीम कोर्ट ने मनरेगा के तहत 2011 में अनियमितताओं और भ्रष्टाचार की सीबीआई जांच के आदेश दिए थे। जांच अभी तक पूरी नहीं हुई है। इस क्षेत्र के छह जिलों के 100 गांवों के एक अध्ययन के आधार पर अनुमान है कि लगभग पांच सौ करोड़ रूपए का गोलमाल मनरेगा में हुआ है।

व्यापक भ्रष्टाचार के अलावा सरकार के खुद के आंकड़ों के अनुसार, बलांगीर जिले में 2,73,550 जॉब कार्ड धारकों में से केवल 5575 (लगभग 2 फीसदी) परिवारों घरों को ही जनवरी 2014 तक वित्तीय वर्ष 2013-14 के दौरान पूरे 100 दिन का काम दिया गया। इसी अवधि के दौरान कालाहांडी जिले में कुल 2,95,831 जॉब कार्ड धारकों में से केवल 2801 (1 प्रतिशत से कम) परिवारों को पूरे 100 दिनों का काम प्रदान किया गया। ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश ने हाल ही में ओडिशा सरकार को लिखे अपने पत्र में बताया कि 216 करोड़ रूपए की मजदूरी का भुगतान, जो कुल मजदूरी का 41 फीसदी है, 15 दिनों से अधिक समय से लंबित है और 29 करोड़ का भुगतान तो 60 से अधिक दिनों से लंबित है।

(न्यू इंडियन एक्सप्रेस, 11 जनवरी 2013)

ऐसे परिदृश्य में, जब न तो खेती के पर्याप्त साधन हैं और न सरकारी योजनाओं का फायदा जरूरतमंद तक पहुंचता है, तो लोगों के सामने रोजगार और आजीविका की तलाश में बाहर पलायन करने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं बचता। जब तक इन बुनियादी समस्याओं का समाधान नहीं होता, बहुसंख्यक आबादी का शोषण होता रहेगा और हाथ काटने जैसी घटनाएं होती रहेंगी। इन पर तात्कालिक आक्रोश के चलते केवल अनुग्रह राशि ही मिल पाएगी। यह समस्या का स्थायी समाधान नहीं है।

-प्रमोदनी प्रधान

# गांधी के जीवन को सजीव करती गांधी कथा

## संतोष

महात्मा गांधी मानव समाज की ऐसी धरोहरों में हैं जिनके जीवन, दर्शन के पुनरावलोकन की आवश्यकता सभ्यता के विकास क्रम में बार-बार पड़ेगी। उनके शहीद होने के 6 दशकों बाद भी आज के भारतीय एवं वैश्विक परिप्रेक्ष्य में महात्मा गांधी के बारे में लोगों की समझ को निरंतर विकसित करने की आवश्यकता है। वाराणसी में 21 फरवरी से 25 फरवरी तक महात्मा गांधी काशीविद्यापीठ के गांधी अध्ययन पीठ के सभागार में साझा संस्कृति मंच और गांधी अध्ययन पीठ के संयुक्त तत्वावधान में गांधी कथा का आयोजन किया गया। इसके कथावाचक महादेव देसाई के पुत्र और गुजरात विद्यापीठ के कुलपति नारायण भाई देसाई थे।

लोक प्रचलित कथा शैली में गांधी के जीवन और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की प्रतिदिन की 4.30 घंटे की संगीतमय प्रस्तुति का अनुपान काशीवासियों के लिए अद्वितीय अवसर था। कथाशैली का प्रभाव था कि श्रोताओं ने प्रथम दिन से ही इस ऐतिहासिक अवसर का दत्त-चित्त होकर लाभ उठाया, चाहे सभागार के बाहर बेमौसम बारिश की प्रतिकूलता क्यों न रही हो।

यह गांधी के विराट व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि उनकी गोद में खेला बचपन आज भी इतनी ऊर्जा और प्रेरणा देता है कि नारायण भाई देसाई जीवन की संध्या बेला में सक्रिय होकर गुजरात के दंगों का रचनात्मक प्रतिकार करने के लिए उनके जीवन का कथापाठ कर रहे हैं। गांधी के जीवन और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को इतने कम समय में रोचक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए एक 90 वर्षीय व्यक्तित्व के परिश्रम से श्रोता प्रतिदिन अभिभूत रहे और प्रथम दिन से ही कथा का ऐसा प्रभाव था जब नारायण भाई देसाई कथावाचन के लिए मंच पर आते तो लगता जैसे इतिहास के पन्नों से निकलकर चले आ रहे हों। गांधी के साथ बिताए गए पलों को याद करते हुए कथावाचक बार-बार श्रोताओं को गांधी को महात्मा की बजाए मनुष्य समझने का आग्रह करते हुए धीरे-धीरे श्रोताओं की समझ को इस प्रकार विकसित करता रहा कि वो एक साधारण मनुष्य की क्षमता को समझ सके। गांधी के जीवन पर भारतीय वैष्णव परंपरा, इंग्लैंड के नागरिक जीवन, रास्किन और टालस्टाय के प्रभाव का जिक्र करते हुए कथावाचक

ने दक्षिण अफ्रीका के पिट्सबर्ग रेलवे स्टेशन पर फेंके गए सामान के साथ टंड में कंपकंपाते अपमानित गांधी के संकल्पित क्षणों का ऐसी संवेदनशीलता से वर्णन किया कि श्रोता रेलवे स्टेशन के घटनाक्रम के दर्शक बन गए।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अर्जी लेकर नेताओं के शिविरों में घूमते निलहे किसान की व्यथा, दांडी मार्च के सत्याग्रहियों का धैर्य, पेशावर के अहिंसक आंदोलनकारियों की शहादत का ऐश्वर्य और गढ़वाल रेजिमेंट के सिपाहियों का मूक बलिदान के वर्णन से भारतीय जनता के जागरण पर्व, जिसके नायक सामान्य लोग थे लेकिन प्रेरक गांधी थे, को धैर्य से सुन रहे श्रोता कभी-कभी मध्यम तालियों से हाल को गुंजाते तो कभी कथावाचक की मंत्रमुग्ध करने वाली शैली में डूब जाते।

इसी प्रकार नारायण भाई ने इतिहास की उन सुरंगों में भी रोशनी डाली जो भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के विद्यार्थियों को प्रायः उद्विग्न करती रहती हैं, गांधी बनाम आंबेडकर, गांधी बनाम हरिलाल, गांधी बनाम सुभाष, गांधी बनाम भगत सिंह। क्विट इंडिया के आह्वान की 8 अगस्त की रात बंबई स्थित बिड़ला हाउस में रात 2 बजे कस्तूरबा और महादेव भाई की फुसफुसाहट भरे स्वर में गांधी की गिरफ्तारी के अंदेश पर चर्चा के साक्षी नारायण भाई जब बता रहे थे कि गिरफ्तारी के समय गांधी ने कस्तूरबा को अपनी इच्छा जताई कि वो चाहते हैं कि कस्तूरबा उस शाम को होने वाली सभा में उनकी जगह संबोधित करेंगी तो श्रोताओं को आंदोलनकारी गांधी की रणनीतिक काबिलियत समझ में आई।

नारायण भाई ने गांधी की उस विनोदप्रियता की चर्चा की जिसके लिए गांधी ने कहा कि यदि विनोदप्रियता नहीं होती तो कई ऐसे अवसर आए जिनके दुःख उनके जीवन के संबंध में निर्णायक हो सकते थे। गोलमेज सम्मेलन के प्रवास में लंदन के गरीब बच्चों के साथ चुहलबाजियां हों या चार्ली चैप्लिन के संबंध में गांधी का अज्ञान, कथावाचक श्रोताओं को जिस तरफ ले गया लोग मंत्रमुग्ध होकर पीछे हो लिए। महादेव देसाई के देहावसान और कस्तूरबा के निधन के चित्रण ने सभागार को गांधी के मनुष्य मात्र होने का साक्षी बनाया।

कथावाचक ने मुस्लिम लीग के डाइरेक्ट एक्शन की क्रिया और प्रतिक्रिया में उपजी सांप्रदायिक हिंसा में जल रहे नोआखाली में घूमते गांधी और उसी बर्बर समय में गांधी के स्वयंसेवकों की प्रेरणा से सुदूर ग्रामीण अंचल में अपने समस्त परिजनों को गवां चुकी अभया बन कर सरपत ढंकी पगडंडियों में नरपशुओं, परवाह न करके एक गांव से दूसरे गांव में संदेशवाहक बनकर दौड़ती एक किशोरी बालिका के साहस का स्मरण कराया। इसी प्रकार विभाजन में बिछी लाशों पर नेहरू, माउंटबेटन और जिन्ना के पश्चाताप को सभागार नारायण भाई के शब्दों में महसूस कर रहा था।

कथा सुनते हुए श्रोताओं ने महसूस किया कि थके हारे कांग्रेसियों का विभाजन पर समझौता गांधी के लिए अगली चुनौती रहा होगा, जिससे ऊर्जा लेकर गांधी निश्चय ही आने वाले समय में भारत और पाकिस्तान की सरहदों पर ऊगी

नागफनियों को पददलित करके पगडंडी में बदल सकते थे, लेकिन विभाजन के बाद गांधी को जितना कम समय मिला, उतना ही कम समय गांधी कथा के श्रोताओं को भी मिला। 21 से 25 फरवरी तक इतिहास की कितनी जानी अनजानी घटनाओं के साक्षी बनते हुए श्रोता 25 फरवरी की सायं कथा समाप्ति इस प्रकार संपूर्ण मौन के साथ सभागार से निकल कर सायं के अंधेरे में विलीन हो रहे थे, मानो समय की सरहद पार करके वर्तमान में आ रहे हों।

इस आयोजन को साझा संस्कृति मंच तथा गांधी अध्ययन पीठ की टीम के समर्पित सहयोग ने संभव बनाया। इसमें प्रमुख रूप स्वाति, रामप्रकाश द्विवेदी, जागृति राही, मुनीता खान, दीप्ति पांडे, सतीश सिंह, वल्लाभाचार्य पांडे, फादर आनंद, चंचल मुखर्जी तथा नीता चौबे की प्रमुख भूमिका रही।

## अनूठे आश्रम में अनूठा आयोजन

कुमार दिलीप

1960 में आचार्य शुद्रोत्तम ने विभिन्न संप्रदाय के 11 परिवारों की महिलाओं व पुरुषों को लेकर, विभाग बनाकर एक को-ऑपरेटिव फार्म समूह की स्थापना की थी। पश्चिम बंगाल जिले के वीरभूमि जिले में शांतिनिकेतन के पास तिलुटिया गांव में यह आश्रम उदयन कल्याण केंद्र के नाम से स्थापित हुआ। सभी ने अपने-अपने धर्म को बचाकर रखने के साथ-साथ मानवीय एकता समूह का निर्माण करने का संकल्प लिया था। सभी लोग, सभी धर्मों का पालन करते थे, कभी कोई किसी भी धर्म के विरुद्ध नहीं रहते थे। इस समूह में सात विभाग खोले गए जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, दुग्ध उत्पादन, पक्षी पालन, वाणिज्य और कला केंद्र विभाग शामिल किए गए थे। प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञ व्यक्ति को सचिव बनाया गया था और शिक्षा विभाग को डिग्री मुक्त बनाया गया था।

1967 में आचार्य शुद्रोत्तम के अनुयायियों ने उनके विचार और आदर्श के प्रचार-प्रसार करने के लिए एक सांस्कृतिक मंच का प्रस्ताव तैयार किया था। जिसमें छोटे बच्चों को परिपक्व करने हेतु बाल मेला एवं बड़ों को

संघर्षशील और संवेदनशील बनाने के लिए साहित्य सम्मेलन आयोजित करने की योजना तैयार की गई थी। सम्मेलन का मूल सारतत्व विचार-विमर्श रखा गया था। इस सांस्कृतिक मंच को आचार्य शुद्रोत्तम के अनुयायी, स्वतंत्रता सेनानी और साहित्यकार पुरनेन्दु प्रसाद भट्टाचार्य ने शुरू किया था। यह सांस्कृतिक मंच आज भी जीवित है। यहां हर वर्ष होली के त्यौहार के अवसर पर कार्यक्रम किए जाते हैं। 2014 में 47वां बाल मेला और साहित्य सम्मेलन तिलुटिया आश्रम में संपन्न हुआ।

कार्यक्रम की शुरुआत में वेद, बाईबल और कुरान का पाठ किया गया। इस मौके पर सामाजिक कार्यकर्ता मनीषा बनर्जी ने कहा कि आश्रम के विचार का प्रचार-प्रसार करना जरूरी है। छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी के कुमार दिलीप ने अपने संघर्ष का अनुभव बताते हुए कार्य योजना बनाने हेतु प्रेरित किया। कौशिक ने कहा कि साम्य, प्रेम और मैत्री शब्द से मुझे आश्रम ने आकर्षित किया है जो हम सब लोगों को पालन करने की जरूरत है। श्यामली सेन ने कहा कि आश्रम के काम में मुझे जब भी बुलाया जाए मैं जरूर आऊंगी और यथा संभव सहयोग करूंगी।

## सुधाताई

# सहजता ही उनकी पहचान थी

मेधा पाटकर, सुनीती सु.र., विजया चौहान

वरिष्ठ समाजवादी नेता साथी सुधाताई वर्दे हमारे बीच नहीं रही। सुधाताई के रूप में बहता हुआ चेतना का स्रोत ही मानो आज लुप्त हुआ है।

स्वतंत्रता आंदोलन तथा उसके बाद में राष्ट्र निर्माण में राष्ट्र सेवा दल का बड़ा योगदान रहा। कलापथक सेवा दल का एक महत्वपूर्ण मंच था, जिसके द्वारा जनजागरण का काम प्रभावी रूप से होता था। सुधाताई कलापथक की मानो नायिका ही थी। 50-55 वर्ष पहले महिलाओं का घर से बाहर निकलना और वह भी नृत्य-नाटक के लिए, आसान नहीं था। तब सेवादल के कला पथक ने भारत दर्शन, महाराष्ट्र दर्शन जैसे नृत्य-नाट्य के द्वारा देश के इतिहास को, सभ्यता को एक नई दृष्टि से समाज के सामने रखा। कवि वसंत बापट, अभिनेता निहू फुले जैसी हस्तियों के साथ सुधाताई ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका उसमें निभाई। सदा प्रसन्न भाव, सहजता का व्यवहार



सुधाताई की विशेषताएं थी।

महाराष्ट्र के शिक्षा मंत्री रह चुके, शिक्षाविद प्रा. सदानंद वर्दे सुधाताई के जीवनसाथी रहे और सहयोगी भी। सुधाताई-सदानंद जी का सहजीवन परस्पर पूरकता की एक मिसाल थी।

आपातकाल के दौरान सदानंद जी जब जेल गए, तब उनकी जिम्मेदारियां सुधाताई ने उठाई, वह भी बड़ी सहज-स्वाभाविकता से। बाद में सुधाताई राष्ट्र सेवा दल की अध्यक्ष रही, जब सेवा दल एक नाजुक स्थिति से गुजर रहा था। 'आपलं घर' जैसे रचनात्मक कार्य में भी इस दंपति का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

आखिर तक सुधाताई सक्रिय रही। आज उनकी बेटी झेलम परांजपे उनके नृत्य तथा सामाजिक कार्य की परंपरा आगे बढ़ा रही हैं। सुधाताई वर्दे जी की चैतन्यदायी स्मृति को हमारा प्रणाम।

## उमरावमल पुरोहित

# जुझारू मजदूर नेता

आल इंडिया रेलवे मैसें फेडरेशन के अध्यक्ष वरिष्ठ ट्रेड यूनियन नेता उमरावमल पुरोहित का 27 फरवरी 2014 को तड़के मुंबई में निधन हो गया। कामरेड पुरोहित पांच दशकों से ज्यादा समय तक रेलवे मजदूर आंदोलन में सक्रिय रहे। वे 30 साल की उम्र में 1958 में वेस्टर्न रेलवे इम्प्लाइज यूनियन के महामंत्री बने। 1962 में उन्हें आल इंडिया रेलवे मैसें फेडरेशन का सहायक महामंत्री बनाया गया। 1985 से वे हिंद मजदूर सभा (एचएमएस) का नेतृत्व भी करते रहे। 1980 से आल इंडिया रेलवे मैसें फेडरेशन

के अध्यक्ष थे। उनका इंटरनेशनल ट्रांसपोर्ट फेडरेशन से भी चार दशक तक संबंध रहा। 1998 में दिल्ली में संपन्न हुई कांग्रेस में वे आईटीएफ के अध्यक्ष बने और 2000 में वैंकूवर में आयोजित कांग्रेस में एक बार फिर अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

कामरेड उमरावमल पुरोहित सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में दो साल तक विषेण आमंत्रित सदस्य रहे और करीब तीन साल पहले हैदराबाद में हुई सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना में उनका सक्रिय योगदान था।

## फतेहाबाद परमाणु बिजली घर के खिलाफ जन चेतना यात्रा

# संघर्ष और निर्माण

**हरियाणा, रोहतक।** आजादी बचाओ आंदोलन एवं परमाणु संयंत्र विरोधी मोर्चा द्वारा रोहतक से सिरसा तक जनचेतना रैली निकाली गई। संयोजक विजयदीप ने गोरखपुर में प्रस्तावित अणु ऊर्जा संयंत्र पर अपने विचार रखे। आजादी बचाओ आंदोलन के हरियाणा के संयोजक यशवीर आर्य ने आंदोलन की गतिविधियों की विस्तार से चर्चा की।

वर्तमान में इस संयंत्र के चारों ओर सघन आबादी वाले गांव हैं। इनमें गोरखपुर गांव की ही जनसंख्या 21,642 है। इस अणु संयंत्र को ठंडा करने के लिए आखड़ा ब्रांच नहर से पानी देगी। इस क्षेत्र के लिए यह विनाशकारी होगा।

इस प्रस्तावित संयंत्र के लगने से इस क्षेत्र में पाए जाने वाले जीव जंतुओं का जीवन खतरे में पड़ जाएगा। डा.विष्णु प्रकाश श्रीवास्तव ने बताया कि भारत के अन्य परमाणु संयंत्रों के अनुभव से पता चलता है कि इस संयंत्र की 20 किमी परिधि में आने वाली जनसंख्या से कैंसर, अपंगता, बांझपन आदि बीमारियों में वृद्धि हुई है। इस गोष्ठी में डा. राजेंद्र चौधरी ने भी अपने विचार रखे।

### किसानों का प्रदर्शन

**मध्यप्रदेश, पन्ना।** किसान नेता आनंद शुक्ला के नेतृत्व में क्षेत्र के किसानों ने धरना प्रदर्शन किया। अतिवृष्टि और ओला वृष्टि के कारण किसान सोसाइटी, बैंक और बिजली के बिल जमा करने की स्थिति में नहीं हैं। अतः सैकड़ों किसान मुआवजा देने और कर्ज माफी के लिए प्रदर्शन में एकत्रित हुए।

इस रैली का नेतृत्व एक बैलगाड़ी कर रही थी जिसे बैलों की जगह दो किसान खींच रहे थे। किसानों के सिर पर टोपी थी जिस पर 'मैं किसान हूँ' एक तरफ था दूसरी तरफ 'मुझे

चाहिए राहत' लिखा हुआ था। किसानों के मुंह पर बैलों के मुंह पर बांधा जाने वाला 'मुश्का' बंधा हुआ था। बैलगाड़ी को नेतानुमा लोग हांक रहे थे। ये नेता वायदों का चाबुक मार-मारकर बैलों को हांक रहे थे। इस धरना प्रदर्शन कार्यक्रम में अवधेश पांडे, पवन शुक्ला, प्रदीप नायक, रामतीरथ, राजकिशोर शर्मा, जगदेव, धीरेंद्र बागरी, प्रेमनारायण त्रिपाठी, इंद्रपाल तिवारी, रामप्रताप पांडे, तुलसीदास त्रिपाठी, राजेश द्विवेदी सहित कई गांव के किसान शामिल हुए।

### 'हाशिए उलांघती औरत' लोकार्पण

**नई दिल्ली।** स्कूल ऑफ इंटरनेशनल, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में 'हाशिए उलांघती औरत' के पांच खंडों तेलगू, प्रवासी, पंजाबी, मराठी और गुजराती का लोकार्पण हुआ। 28 एवं 29 मार्च को यह कार्यक्रम तीन सत्रों में हुआ।

जे.एन.यू. के उपकुलपति प्रो.एस.के. सोपेरी, नया ज्ञानोदय के संपादक लीलाधर मंडलोई, राजेन्द्र उपाध्याय तथा तेलगू लेखिका भाग्यलक्ष्मी के हाथों इन पांच भाषा खंडों का लोकार्पण हुआ। इस अवसर पर वासवी किड़ो की पुस्तक 'भारत की क्रांतिकारी आदिवासी वीरगंगाएं' तथा राजकुमार कुंबज के कविता संकलन 'दृश्य एक घर है' का भी लोकार्पण हुआ।

दूसरा सत्र प्रवासी अंक पर केंद्रित था। इस सत्र में प्रवासी लेखिका ऊषा वर्मा तथा स्वाति सरोज ने अपने विचार व्यक्त किए। कार्यक्रम के तीसरे सत्र में पंजाबी अंक की संपादक जसविंदर कौर बिन्दा ने अपने अनुभवों को साझा किया। सत्र के मुख्य अतिथि मंजीत सिंह ने रमणिका फाउंडेशन की अध्यक्ष रमणिका गुप्ता को इस काम के लिए धन्यवाद दिया।

## आदर्शवादी समाजवादी थे सुनील: सच्चर

**दिल्ली**। आकाश में अनंत तारे हैं। लेकिन एक तारा ऐसा है जो सबसे अलग है। उसकी चमक, उसकी उपस्थिति पूरे संसार को अपने होने का अहसास कराता है। लेकिन वह आकाश में बहुत कम समय के लिए आता है। वह तारा है शुक्र तारा। समाजवादी विचारक और कार्यकर्ता सुनील आकाश में बहुत कम समय के लिए आनेवाले उसी शुक्र तारा की तरह थे। सुनील बहुत कम दिन हमारे बीच रहे, लेकिन अपने 54 साल की कुल आयु में ही अदभुत कार्य किया।

गांधी शांति प्रतिष्ठान में गुरुवार को समाजवादी जन परिषद के महामंत्री स्व. सुनील की याद में शोक सभा में गांधी मार्ग के संपादक पर्यावरणविद अनुपम मिश्र ने सुनील को कुछ इसी रूप में याद किया। समाजवादी जन परिषद के महासचिव साथी सुनील का 21 अप्रैल की रात 11:30 बजे नई दिल्ली के एम्स में हो गया था। उन्हें उनके निवास स्थान मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के भुमकापुरा गांव में गत 16 अप्रैल को ब्रेन हैमरेज हुआ था। पहले इटारसी में इलाज हुआ फिर भोपाल में मस्तिष्क का ऑपरेशन। कोई सुधार न होने पर उन्हें एम्स लाकर भर्ती कराया गया था। लेकिन उन्हें बचाया नहीं जा सका। 22 अप्रैल को दिन के 2 बजे नई दिल्ली के लोदी रोड विद्युत शवदाह गृह में समाजवादी जन परिषद की ओर से सम्मान के साथ उनका अंतिम संस्कार कर दिया गया। इस अवसर पर दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति राजेन्द्र सच्चर, प्रख्यात पर्यावरणविद अनुपम मिश्र, प्रो. राजकुमार जैन, विजय प्रताप, प्रो. सतीश जैन, डी. पी. त्रिपाठी, सुधीन्द्र भदौरिया, मणिमाला समेत करीब 150 लोग उपस्थित रहे।

उनकी याद में बुधवार को परिवार की ओर से एम्स के फैकल्टी क्लब में भजन संध्या का आयोजन किया गया। इसमें सुनील के जेएनयू के सहपाठी शुभेन्द्रू ने कबीर के भजनों के साथ फैज अहमद फैज और राम प्रसाद बिस्मिल की रचनाएं सुनाईं।

गुरुवार को विभिन्न संगठनों की ओर से शोकसभा का आयोजन किया गया था, जिसमें विभिन्न क्षेत्रों के लोगों ने इसमें बड़ी संख्या में शिरकत की। सुनील को याद करते हुए जेएनयू के पूर्व अध्यापक ईश्वरी प्रसाद ने कहा कि इस विश्वविद्यालय में रहते हुए सुनील ने जो काम किया है

वह शायद किसी छात्र या शिक्षक ने नहीं किया। एक सुनील ही थे, जिन्होंने जेएनयू के आसपास की झुग्गी झोपड़ियों में जाकर वहां के बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति राजेन्द्र सच्चर ने सुनील को आदर्शवादी समाजवादी बताते हुए उनके आंदोलनों में भागीदारी, शिक्षा नीति पर उनकी दृष्टि, उनके रहन-सहन और उनके त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सुनील के विरल गुणों और त्याग, गरीबों, आदिवासियों, किसानों, मजदूरों और अन्य वंचित तबकों के लिए किए संघर्षों का याद करते हुए गांधी शांति प्रतिष्ठान की अध्यक्ष राधा बहन, भारत डोगरा, देवेन्द्र सिंह यादव, स्वामी अग्निवेश, अफलातून, डॉ. स्वाति आदि अनेक लोगों ने विचार व्यक्त किए।

शोकसभा के प्रारंभ में समाजवादी जन परिषद, दिल्ली के अध्यक्ष अतुल कुमार ने विस्तार से उनका परिचय रखा। जेएनयू में पढ़ाई और राजनीतिक कार्य के साथ विभिन्न आंदोलनों, वैकल्पिक राजनीतिक संस्कृति के लिए उनके प्रयासों और जनाधारित राजनीति के प्रति उनकी अटूट निष्ठा और उसके लिए सहे कष्टों का जिक्र करते हुए उनकी विलक्षण बौद्धिकता को उजागर किया गया।

शोकसभा में गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली के सभ्य कार्यकर्ताओं की ओर से पारित शोक प्रस्ताव पढ़कर सुनाया गया। शोकसभा की अध्यक्षता सजप के वरिष्ठ साथी चंचल मुखर्जी और संचालन प्रो. प्रेम सह ने किया।

27 अप्रैल को उनके सहपाठी रह चुके मित्र शंभुनाथ सिंह एवं अन्य साथियों की ओर से जेएनयू के स्कूल ऑफ सोशल साइंस में शोकसभा का आयोजन किया गया। इसमें भी बड़ी संख्या में लोगों ने सुनील के कार्यों को याद किया और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की।

-अतुल कुमार

### सुनील भाई को याद किया

**मध्यप्रदेश, इंदौर**। इंदौर के विसर्जन आश्रम में आयोजित शोक सभा में सुनील भाई का समाज में योगदान, विद्वता व साहस को याद किया गया। शोकसभा में अनिल त्रिवेदी, तपन भट्टाचार्य, रामबाबू अग्रवाल व चिन्मय मिश्र ने उनके कृतित्व पर प्रकाश डाला। सभा में सर्वोदय प्रेस सर्विस,



गांधी शांति प्रतिष्ठान केंद्र, स्वास्थ्य अधिकार मंच, शिल्पी केंद्र, राहत केंद्र आदि संस्थाओं ने भी सुनील भाई के निधन पर शोक व्यक्त किया है। अंत में दो मिनट का मौन रखकर उन्हें श्रद्धांजलि दी गई।

**भोपाल।** गांधीभवन में गत 27 अप्रैल को सुनील भाई की याद में शोकसभा का आयोजन किया गया और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई। इस दौरान बड़ी संख्या में सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार व उनके प्रशंसक मौजूद थे। इस मौके पर वक्ताओं ने कहा कि सुनील भाई जो कहते थे उसे अपने जीवन में ढाल लेते थे। वक्ताओं ने कहा कि हमने गांधी को नहीं देखा, लेकिन आज के जमाने में सुनील भाई गांधी की परंपरा को आगे बढ़ा रहे थे। नर्मदा बचाओ आंदोलन के आलोक अग्रवाल ने कहा कि वे हमें हमेशा राजनीति में आने के लिए कहते थे। अब हम राजनीति में आ गए हैं, लेकिन वे छोड़कर चले गए। महिला गैस पीड़ित संगठन के अब्दुल जब्बार ने कहा कि सुनील भाई के काम को आगे बढ़ाना ही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी। इस मौके पर आलोक अग्रवाल, विजय बहादुर सिंह, देविन्दर कौर उप्पल, डा. अनिल सद्गोपाल, दीपक तिवारी, ब्रजेश राजपूत, शिरीष खरे, नीता दीवान सहित गणमान्य लोग उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन राकेश दीवान ने किया।

**इटारसी।** सामयिक वार्ता कार्यालय में गत 22 अप्रैल को हुई शोकसभा में गैर सरकारी संगठनों के प्रतिनिधि, नारी जागृति मंच के सदस्य व शहर के अनेक गणमान्य लोग उपस्थित थे। सभा के दौरान डॉ. कश्मीर उप्पल, चंद्रशेखर मिश्र, ब्रजमोहन सोलंकी, भारतभूषण गांधी, ओमप्रकाश रैकवार, राजकुमार दुबे, ममता सोनी, विद्या मिश्रा सहित कई लोगों ने सुनील भाई को याद किया और उनसे जुड़ी स्मृतियां साझा की।

**होशंगाबाद।** सुनील जी की याद में गांधी भवन में 22 अप्रैल को श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। जिसमें सुनील भाई को श्रद्धांजलि अर्पित कर उन्हें याद किया गया। इस दौरान एकलव्य, भारत ज्ञान-विज्ञान समिति, एकता और ग्राम सेवा समिति के सदस्य उपस्थित थे। इस मौके पर रश्मि, शंभूनाथ, योगेश दीवान, लक्ष्मण राजपूत, राजेश सामले, हसन, यमुना और सुशील जोशी मौजूद थे। इस मौके पर मालाखेड़ी में चल रहे शराब बंदी आंदोलन की महिलाएं भी उपस्थित थीं।

**पिपरिया।** मंगलवारा चौराहे पर गत 23 अप्रैल को सुनील भाई की याद में सर्वदलीय शोकसभा का आयोजन

किया गया। जिसमें उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई। इस दौरान गोपाल राठी, श्रीगोपाल गांगूड़ा, हरगोविंद राय, लखन राजपूत, प्रकाश मंडलोई, अशोक पालीवाल, तुलाराम बेमन, संपत मूंदड़ा आदि गणमान्य लोग मौजूद थे। वक्ताओं ने सुनील भाई को याद कर उन्हें एक प्रेरणादायक व्यक्तित्व बताया। शोकसभा का संचालन किशोर डाबर ने किया और अध्यक्षता शैलेन्द्र राय ने की।

**पलिया पिपरिया।** नियोगी भवन में 27 अप्रैल को शोकसभा का आयोजन किया गया। जिसमें किसान मजदूर संगठन, समाजवादी जनपरिषद और आम आदमी पार्टी के लोगों ने बड़ी संख्या में शामिल हुए और इस मौके पर सुनील भाई को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। यहां हरगोविंद राय, गोपाल राठी, श्रीगोपाल गांगूड़ा, लखन राजपूत आदि ने सुनील भाई से जुड़ी यादें साझा की।

**उत्तर प्रदेश, बनारस।** समाजवादी जनपरिषद के राज्य कार्यालय पंचकोट शिवाला में गत 27 अप्रैल को सुनील भाई की याद में शोकसभा का आयोजन किया गया। इस मौके पर वक्ताओं ने कहा कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ सुनील जी के लिखे समसामयिक लेखों से एक साफ दृष्टि मिलती थी। उनकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था। वे गांधी की सही परंपरा को आगे बढ़ा रहे थे। इस मौके पर चंचल मुखर्जी ने उनके जीवन पर प्रकाश डाला। लोक विद्या के डा. सुनील सहस्त्रबुद्धे, विजन संस्था की जागृति राही, फारवर्ड ब्लाक के संजय भट्टाचार्य, सजप के सैय्यद मकसूद अली, डा. स्वाति, सिद्दीक हसन, अब्दुल्ला अंसारी, आम आदमी पार्टी के महेश विक्रम, राम जनम आदि उपस्थित थे। इसके अलावा गांधी विद्या संस्थान की मुनीजा खान और डा. नीता चौबे प्रमुख रूप से उपस्थित थीं। कार्यक्रम का संचालन अफलातून ने किया और अध्यक्षता अमरनाथ भाई ने की।

## अगला अंक सुनील जी पर

*सामयिक वार्ता का अगला अंक सुनील जी पर केंद्रित होगा। उनसे जुड़े संस्मरण व स्मृतियां आमंत्रित हैं। अगर आपके पास उनकी वीडियो रिकार्डिंग व फोटोग्राफ हों तो कृपया वार्ता के पते पर भेजें। हम उनका यथासंभव उपयोग करना चाहेंगे।*

## मूल्य का सवाल

मार्च-अप्रैल 2014 को अंक मिला। इसमें सच्चिदानंद सिन्हा जी का एक बेहद महत्वपूर्ण लेख 'वामपंथ की बुनियादी भूल' पढ़ा। साथ ही संपादकीय 'स्वच्छ व मानवीय पूंजीवाद संभव नहीं' भी पढ़ा। दोनों ही लेखों में अर्थशास्त्र से संबंधित जरूरी मुद्दे उठाए गए, जिन पर विचार करना एवं बहस को आगे बढ़ाना उपयोगी होगा। फिलहाल सिन्हा जी के लेख पर विचार।

वरिष्ठ चिंतक, सिन्हा जी ने अपने लेख में 'मार्क्स की भूल' उप शीर्षक से कच्चे माल के मूल्य का प्रश्न उठाया है। सिन्हा जी का यह कहना कि मार्क्स कच्चे माल का मूल्यांकन करना भूल गए, काफी हद तक सही है। इसकी व्याख्या शायद कुछ इस प्रकार की जा सकती है-

1. मार्क्स की मूल चिंता 'श्रम का शोषण' थी और उनका वैचारिक ढांचा इस 'श्रम के शोषण' को मिटाने के लिए तैयार किया गया था।

2. मार्क्स के दौर में पर्यावरण की समस्या आज की तरह विकराल रूप में नहीं थी। अतः प्राकृतिक संसाधनों और विशेषतः परिवेश का विचार उस दौर में केंद्र में नहीं रहा। नतीजा यह हुआ कि मार्क्स जैसे चिंतक से भी 'प्राकृतिक परिवेश' का विचार छूट गया।

इस बात को भी हमें ध्यान में रखना होगा कि मार्क्स के पास सीधे-सीधे 'मूल्य' जैसी कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे हम सुविधानुसार किसी वस्तु पर चिपका सकते हैं। मार्क्स के अनुसार मूल्य बाहर से नहीं बल्कि किसी वस्तु के भीतर से उपजता है।

मार्क्स मानते हैं कि मूल्य का रूप वस्तु की प्रकृति के भीतर से उपजता है और वह भी द्वंद्वात्मक प्रणाली से। यह विचार बिल्कुल हेगेल की लाइन पर है। दूसरी तरफ मार्क्स को लगता है कि अर्थशास्त्री रिकार्डो और स्मिथ 'मूल्य' के साथ ऐसा बर्ताव करते हैं मानो 'मूल्य' वस्तु के तत्व से बाहर की चीज है यहां रिकार्डो आदि अर्थशास्त्र के चिंतक जर्मन दार्शनिक कांट की तरफ जाने लगते हैं। शायद यही वह दार्शनिक जमीन है जिसके कारण मार्क्स किसी चीज पर पहले से मूल्य चस्पा नहीं कर पाते। उनके लिए मूल्य श्रम की प्रक्रिया से आता है। यानी हेगेलीय भाषा में कहें- तो वस्तु और श्रम की आपसी द्वंद्वात्मक क्रिया से मूल्य पैदा होता है। यही मानवीय

श्रम मार्क्स के विमर्श का केंद्र है।

डा. लोहिया ने यहां एक आपत्ति की थी जिसका जिक्र यहां जरूरी है। लोहिया ने रचना- 'अर्थशास्त्र मार्क्स के आगे' में लिखते हैं- "यद्यपि मार्क्स ने श्रम को अमूर्त माना है, किंतु यथार्थ में ऐसा नहीं है।"

मार्क्स के अनुसार यह अमूर्त श्रम जब ठोस आकार पाता है तो मूल्य बनता है। मूल्य का मतलब यहां विनिमय मूल्य ही है। एक बात साफ है कि मार्क्स के चिंतन का संदर्भ बिल्कुल स्पष्ट है- 'मानव समाज और उसमें मानवीय श्रम की स्थिति' यह है मार्क्स का ढांचा जिसमें वो कार्य कर रहे हैं।

लेकिन तस्वीर यहां पूरी नहीं होती कुछ टुकड़े बचे रहते हैं।

एक बार मार्क्स की प्रमुख रचनाओं पर दृष्टि डालते हैं और सरसरी तौर पर यह देखने की कोशिश करते हैं कि क्या प्राकृतिक परिवेश, कच्चा माल और प्रकृति मार्क्स में से एकदम गायब हैं या नहीं। टूटे और बिखरे हुए सूत्रों के रूप में हमें ये कई जगह मिलेंगे जैसे- मार्क्स लिखते हैं- "इस प्रकार हम देखते हैं कि अकेला श्रम ही भौतिक संपत्ति का अथवा श्रम के पैदा किए हुए उपयोग-मूल्यों का एकमात्र स्रोत नहीं है। जैसा कि विलियम पैरी ने कहा है- श्रम उसका बाप है और पृथ्वी उसकी मां है।"

(पूंजी- खंड-1, प्रगति प्रकाशन, संस्करण 1987, पृष्ठ-63)

'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' के पहले ही पृष्ठ पर हम यह पाते हैं-

"श्रम ही सारी संपदा का स्रोत नहीं है। प्रकृति को भी उपयोग मूल्यों का (और भौतिक संपदा में और है भी क्या!) श्रम जितना ही स्रोत कहा जा सकता है, जो स्वयं प्रकृति की एक शक्ति-मानव, श्रमशक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है।"

(गोथा कार्यक्रम की आलोचना कार्ल मार्क्स, प्रगति प्रकाशन 1976, पृष्ठ-63, 64 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में संकलित)

अब सवाल यह है कि यदि कच्चा माल और प्रकृति मार्क्स के ढांचे में कहीं-कहीं मौजूद थे तो उन्हें इनका उचित स्थान क्यों नहीं मिला? अंदाजे के तौर पर दो व्याख्याएं

मैंने शुरुआत में लिख दी हैं फिर भी, मार्क्स के मन में क्या था, यह कोई नहीं जानता।

व्यवहारिक दिक्कतें:-

पर्यावरण या प्राकृतिक परिवेश की वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कैसे हो? इसके लिए आधुनिक अर्थशास्त्र जो उपाय सुझाता है वो अप्रत्यक्ष तरीके हैं। जैसे-

1. लोगों से सर्वेक्षण के माध्यम से अंदाजा लगाने को कहा जाए। विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने हिसाब से किसी पर्यावरण की वस्तु का मूल्य बताएं। (इसे तकनीकी भाषा में कंटिजेंट वैल्यूएशन कहा जाता है)

2. ऐसी वस्तुओं का निरीक्षण किया जाए तो सीधे-सीधे पर्यावरण की गुणवत्ता से संबंधित हों और पता किया जाए कि लोग इन्हें कितना खरीदते हैं। जैसे-

शोर कम करने वाले उपकरण अगर ज्यादा हैं तो इसका अर्थ लोग शांत वातावरण का मूल्य अधिक आंकते हैं। ठीक इसी तरह यदि पानी शुद्ध करने वाले उपकरण जनता ज्यादा संख्या में खरीदती है तो इसका अर्थ होगा कि आमजन में शुद्ध जल का ऊंचा मूल्य है।

इस पद्धति को 'चुनाव/वरीयता का प्रकटीकरण' (रीवीलड प्रेफरेंस) कहते हैं।

बात साफ है कि ये दोनों पद्धतियां (या जो और भी होंगी) एक तरह से परोक्ष हैं और इनमें 'मूल्य' बाहर से आता है। पूरी झिझक के साथ मैं यह कह सकता हूँ कि यदि मार्क्स खुद आ जाएं तो इस तरह के मूल्य को बाहर से चिपकाने वाली कांटवादी पद्धति पर भरोसा नहीं करेंगे। तो फिर कच्चे माल या प्राकृतिक संसाधन का मूल्य निर्धारित करने की पद्धति क्या हो? इससे भी आगे जाकर पूछा जा सकता है कि 'शांत वातावरण' जो सबकी जरूरत है उसका मूल्य अर्थशास्त्र की भाषा में क्या निकल पाएगा? '3000 डॉलर में पाएँ- अमुक जगह पर शांत वातावरण'- यह तो मजाक ही बनेगा।

लेकिन इस सबसे अलग होकर 'मूल्य' की कोई नितांत देशज अवधारणा तो हमें अब चाहिए ही। इसमें मार्क्स की द्वंद्वात्मक प्रणाली मददगार साबित होगी। गांधी-लोहिया-जे.पी. धारा के अग्रणी चिंतक सिन्हा जी ने जो बुनियादी सवाल अपने लेख में उठाए हैं उन पर ठोस तरीके से घोर परिश्रम की जरूरत है। साथ ही यह सैद्धांतिक विमर्श 'हवाई-फायर' न बनकर रह जाए, इसके लिए सिन्हा जी के लेख की पंक्तियां जो दिखने में एकदम साधारण, परंतु अपरिहार्य हैं-

'लोगों से जुड़ने की जरूरत है। इसी के जरिए हम लोग मानवीय समाज की स्थापना कर सकेंगे।'

अमनदीप वरिष्ठ

मकान नं. 2006, सेक्टर 2 एवं 3 (पी), रोहतक  
(हरियाणा) फोन : 09729482329

## अफसर शाही का खामियाजा

वार्ता का मार्च 2014 अंक एक दिन की छुट्टी में जितना हो सका उतना ही पढ़ा है।

'अफसरशाही, अपवाद और सीमाएं' भारतीय अफसरों की एकदम सटीक प्रस्तुति है। इन अफसरों से इनके मातहत कर्मचारी और नागरिक दोनों त्रस्त होते हैं। विभिन्न विभागों के सचिव सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए ऐसी नीतियां बना डालते हैं जिसका खामियाजा देश और जनता को भुगतना होता है

राजकिशोर जी ने नरेंद्र मोदी और राहुल गांधी का आंकलन एकदम ठीक-ठाक ही किया है। तीसरे मोर्चे पर की गई टिप्पणी ने तो मुझे लोट-पोट कर दिया। सच में जनता त्रस्त, पर राजनीतिक दल मस्त हैं। किसी प्रकार के सिद्धांत, प्रतिबद्धता नेताओं के लिए कोई मायने नहीं रखते, परंतु यह भी उतना ही सच है कि आम जनता भी नैतिक होना नहीं चाहती।

होशांगाबाद के नागरिकों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में जो नया अभियान शुरु किया गया है वह काबिले तारीफ है। यह अभियान सफल हो और पूरे देश में फैले।

आप लोग ग्रामीण सभ्यता और ग्रामवासियों का पक्ष अधिक लेते हैं परंतु मेरे व्यक्तिगत अनुभव इस क्षेत्र में ज्यादातर अच्छे नहीं रहे हैं। कभी समय और अवसर मिलने पर अपने अनुभवों को साझा करूंगी।

एकलव्य प्रकाशन की एक किताब 'कबाड़ से जुगाड़' मुझे अपने विद्यालय के ट्रंक में फटी हुई हालत में मिली थी। प्रयोग सभी करने लायक थे पर विद्यालय में मेरी स्थिति एकला चलो की है। गिजुभाई का 'दिवास्वप्न' साकार करना फिलहाल मुझे असंभव सा लग रहा है।

अर्पण कुमार की कविता बहुत ही अच्छी है। वास्तव में किसी भी बात को धैर्य से सुनना और अंतरंगता में कही गई किसी बात को पचा लेना विलक्षण है।

भारती

पता- चंद्रशेखर झा, कचहरी रोड, लहरिया सराय,  
दरभंगा, 846001 बिहार।

# मैं बनारस हूँ...

## ‘जागृत समाज’ इलाहाबाद

मैं बनारस हूँ। उतना पुराना हूँ जितना पुराना अपना देश। देशी हो या विदेशी जो भी मेरे पास आया मेरा ही हो गया। कहते हैं कलकत्ता जाते वक्त एक बार महान शायर मिर्जा गालिब मेरे पास ठहरे। मैं उन्हें इतना भाया कि जाते वक्त बोल पड़े ‘ऐ खुदा बनारस को बुरी नजर से बचाना।’ मेरे चाहने वालों ने हमेशा मुझे बुरी नजर से बचाया। लेकिन अब रंग-बिरंगे बनारस को एक रंग में रंगने की तैयारी हो रही है। मेरे चाहने वाले बाशिंदों-मेरे बच्चों! कहीं मुझे बुरी नजर तो नहीं लगने वाली है?

जी मैं बनारस हूँ। मेरा कोई एक रंग नहीं है। मेरा कोई एक धर्म नहीं है। मेरी कोई एक जाति नहीं है। मेरी कोई एक बोली नहीं है। सभी धर्मों, जातियों, संप्रदायों, संस्कृतियों और बोलियों ने मुझे बनाया है। कहते हैं बनारस शिव जी के त्रिशूल पर बसा है। महादेव मंदिरों में बसने वाले भगवान नहीं हैं। वे मेरी रंग-रंग में हैं। मेरी बोली-बानी में, मेरे रहन-सहन में, मेरी चाल ढाल में, सब में महादेव समाए हैं। यही हाल गंगा का है। वह नदी है। वह मां है। गंगा हमारे जीवन जीने का तरीका है। इसी गंगा के किनारे पंचगंगा घाट पर घंटे, घड़ियाल और धरहरा मस्जिद में अजान की जुगलबंदी होती है तो बनारस यानी मैं जागता हूँ। मैं वह शहर हूँ जहाँ विश्वनाथ बाबा के दरबार में बिस्मिल्ला खां की शहनाई गूंजती रही है। क्या मेरे महादेव मुझसे छिन जाएंगे। और मुझे ‘हर-हर महादेव’ और ‘हर-हर गंगे’ की जगह ‘हर-हर मोदी’ सुनना पड़ेगा? क्या बिस्मिल्ला खां विश्वनाथ बाबा के दरबार से निकाल दिए जाएंगे? शिव के घर में अशिव कहां से आ गए? मेरे शहरियों मुझे बुरी नजर लगने वाली है।

मैं बनारस हूँ। मैं वह शहर हूँ जहाँ महात्मा बुद्ध ने पहला उपदेश दिया। कई जैन तीर्थंकर बनारस से जुड़े रहे। जहाँ कबीर, तुलसी और रैदास ने कविता की गंगा बहाई। यहाँ गुरु नानक ने गंगा में डुबकी लगाई। यहाँ गांधी जी ने कांग्रेस को जनसंगठन बनाने की ओर कदम बढ़ाया। यहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव ने समाजवाद का पाठ पढ़ाया। भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद और नजीर बनारसी की कलम मेरी पहचान है। यहाँ बी.एच.यू.

में होने वाली गहन चर्चाएं हैं। यहाँ घाटों के पंडे हैं और पानी को चीरते मल्लह हैं। यहाँ सदियों से मुझे मेरी पहचान देने वाले बनारसी साड़ी के बुनकर हैं। यहाँ हिन्दुस्तानी संगीत को निराला ठाठ देता बनारस घराना है। यहाँ माहौल में हर ओर फैली राजनीतिक चर्चाएं हैं। यहाँ चेतगंज की नक्कटैया है और भोजपुरी के मर्सिए हैं, मेला है-ठेला है, राग-रंग है। कितना रंग-बिरंगा हूँ मैं। लेकिन देखिए कैसे लोग आ रहे हैं अब मेरे आंगन में। इनकी जुबान पर नफरत है। बनारस एक रंग-बिरंगा मेला है, ये मेले को उजाड़ देना चाहते हैं। मुझे बुरी नजर से बचाओ बनारस वालो!

मैं बनारस हूँ। सादगी मेरा स्वभाव है। झूठ और पाखंड से मेरा कोई वास्ता नहीं। पर यह क्या? ये जो लोग आए हैं ये सिर्फ नफरत की ही नहीं झूठ की राजनीति भी करते हैं। दिखावे के लिए विकास के नारे लगाते हैं। इनका विकास सिर्फ अमीरों का विकास है। ये गुजरात के विकास की बात करते हैं जहाँ किसानों की जमीनें हड़पी जा रही हैं। जहाँ किसान आत्महत्या कर रहे हैं। जल, जंगल और जमीन की सौदागिरी से गुजरात के पर्यावरण का काफी नुकसान हुआ। विकास के नाम पर गुजरात के छोटे उद्योग चौपट हुए हैं तो मेरे बुनकरों और दूसरे छोटे उद्योगों पर ये क्या रहम करेंगे। अब इन पाखंडियों की नजर मुझ पर है। मुझे बुरी नजरों से बचाओ दोस्तो!

मैं बनारस हूँ अपने बाशिंदों का प्यारा बनारस। मैं बनारस ही बना रहना चाहता हूँ। इसलिए मेरे निवासी नारा लगाते हैं बना रहे बनारस। लेकिन जो लोग मुझे फतह करने आ रहे हैं वे मेरा स्वभाव बदलना चाहते हैं। वे मेरा ताना-बाना तोड़ना चाहते हैं। इनका जो विकास का मॉडल है वह सब शहरों को एक जैसा बना देना चाहता है। वे शहरों को ऐसा बनाना चाहते हैं जिसमें गरीब उजाड़े जाएं और नफरत का बाजार गर्म हो। वे मेरे रंग छीनकर मुझे एक रंग में रंगना चाहते हैं। मुझे इन हमलावरों की नजर लग जाएगी क्या?

मुझे इन हमलावरों की बुरी नजर से बचाओ मेरे बच्चो। (पीएनएन)